जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol VII

Edited by

Prof Hiralal Jain M A., LLB.
Prof A N Upadhye M A., D Litt
B Kamta Prasad Jain M R. A. S
Pt. K Bhujabali Shastri Vidyabhushana

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA

DECEMBER, 1941

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी पाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर दो भागों मे प्रकाशित होता है।

'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ... है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की ... सुविधा रहेगी।

इसमें केवल साहित्य-सं... ...कृत हों

प्रबन्धक 'जैन-... ...जा सकते

...आरा को देनी चाहिये।

...होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

इस पत्र मे अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए, एल एल बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर.ए.एस.

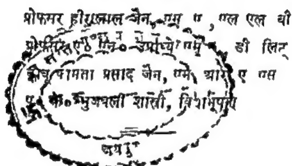
पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी पाण्मासिक पत्र

भाग ८ मार्गशीर्ष किरण २

सम्पादक



प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए, डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।।) एक प्रति का १।।)

ई० सन् १९४१

विषय-सूची

ग्रन्थमाला-विभाग

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ८ | दिसम्बर, १९४१। मार्गशीर्ष, वीर नि० सं० २४६८ | किरण २

अर्द्धफालक-सम्प्रदाय

[ले० श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० [illegible]]

'अतोऽर्द्धफालकं लोके व्यानसे मतमद्भुतम्।
कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत् ॥२०४॥

—श्रीभद्रबाहुचरित्र

श्रीरत्ननन्दी आचार्य ने अपने 'भद्रबाहुचरित्र' नामक ग्रन्थ में अर्द्धफालक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। उपर्युक्त शब्दों में बताया है कि 'यह आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर सब लोगों में फैल गया, जैसे जल में तेल का बिन्दु फैल जाता है।' यह भी बताया है कि 'यह अर्द्धफालक दर्शन जिन भगवान् के वास्तविक सूत्र का विपरीत कल्पना करके बिचारे मूर्ख लोगों को खोटे मार्ग में फँसाता है।'[1] श्रीरत्ननन्दीजी ने इस मत को [illegible] भद्रबाहुकालीन द्वादशवर्षीय दुष्काल के अन्त में प्रादुर्भूत हुआ बताया है और अन्त में लिखा है[2] कि 'उपरान्त वल्लभीपुर में सम्पूर्णतः श्वेत वस्त्र ग्रहण करने के कारण विक्रम नृपति की मृत्युकाल से १३६ वर्ष के बाद श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध

१ श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रस्य सूत्रं संकल्प्यान्यथा [illegible]
[illegible] ॥१३७॥

२ [illegible]।
[illegible] ॥८४॥
[illegible]।
[illegible] ॥ [illegible]॥

एक 'आधा वस्त्र' स्वीकार कर लिया, जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे।[1] कण्ह-श्रमण के चित्र से श्रीरत्ननन्दीजी का बताया हुआ साधु का विकृत-रूप प्रमाणित होता है। यदि यह कहा जाय कि कण्ह-श्रमण को श्वेताम्बरीय ही क्यों माना जाय? अथवा उन जैसे सब ही साधुओं के चित्रों को श्वेताम्बरों से क्यों सम्बन्धित किया जाय? तो, यह तर्क भी तथ्यहीन है; क्योंकि मथुरा-पुरातत्व में एक ऐसा शिलापट भी मिला है, जिससे स्पष्ट है कि वह उस सम्प्रदाय की कृति है, जिसे भ० महावीर के गर्भ परिवर्तन की वार्ता मान्य है। इस शिलापट का चित्र श्री चिमनलाल शाह की "जैनिज्म इन नोर्थ इण्डिया" नामक पुस्तक के पृष्ठ २१ पर प्लेट नं० ४ पर छपा हुआ है। इसका वर्णन लिखते हुए डॉ० बुल्हर ने लिखा है:—

"At his (Nemesa's) left knee stands a small naked male, characterised by the cloth in his left hand, as an ascetic and with uplifted right hand"

—*Dr Bulher, Ep Ind., II, 316.*

श्वेताम्बरीय मान्यता है कि इन्द्र की आज्ञा से नैगमेश (नेमेश) ने भ० महावीर का गर्भपरिवर्तन किया था। उपर्युक्त शिलापट में नैगमेश गर्भपरिवर्तन करता हुआ चित्रित किया गया है और यह स्पष्ट करने के लिये कि यह मान्यता श्वेताम्बरों के पूर्वज, अर्द्धफालक-श्रमणों की है—नैगमेश के पास एक छोटी-सी मूर्ति ऐसे दिगम्बर साधु की अङ्कित की गई है, जिसकी डेढ़ी कलाई पर खण्डवस्त्र (अर्द्ध-फालक) लटक रहा है। इस साक्षी से यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बरीय साधुओं ने एकदम श्वेतवस्त्र धारण नहीं किया था, बल्कि प्रारंभ में उनके पूर्वगामी आचार्यों ने खण्डवस्त्र (अर्द्ध-फाल) अपनी नग्नता छिपाने के लिये ग्रहण किया था। इन पूर्वगामी श्वेताम्बरीय श्रमणों का उल्लेख श्रीरत्ननन्दीजी ने ठीक ही 'अर्द्धफालक' नामसे किया है—उन्होंने एक घटित हुई सत्यवार्ता का उल्लेख किया है, जिसका पता, संभव है, 'भावसंग्रह' के रचयिता को न रहा हो। श्रीरत्ननन्दीजी का सम्पर्क उत्तर भारत से अधिक रहा होगा, इसीसे शायद वह मथुरा के पुरातत्त्व से प्रमाणित होनेवाली घटना का उल्लेख कर सके हैं। अतएव उनके कथन में संशय करना व्यर्थ है और यह कहना कि 'अर्द्धफालकों' की वार्ता तथ्यहीन और कल्पित है, गलत है।



१ 'एतच्च विषमं रूपं जनानां भीतिकारकम्।
धृत्वा सुरल्लकं शीर्षे परिधायार्द्धफालकम्॥८१॥ —भद्रबाहुचरित्र, पृ० ५६

मेरी देवगढ़ की यात्रा

[ले० श्रीयुत प० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण]

जी० आई० पी० रेलवे लाईन, जो देहली से बम्बई को गई है उसी पर ललितपुर नाम का स्टेशन है। ललितपुर से देवगढ १९ मील दूर है। यहाँ से यात्री बैलगाड़ी, ताँगा एवं मोटर द्वारा देवगढ़ जा सकते हैं। देवगढ जाने का एक दूसरा रास्ता भी है। ललितपुर से दक्षिण की ओर दूसरा स्टेशन जाखलौन है। इस स्टेशन से देवगढ केवल ९ मील दूर है और यहाँ से यात्री बैलगाड़ी द्वारा देवगढ़ जा सकते हैं। जाखलौन स्टेशन से पैदल का सीधा रास्ता सिर्फ ७ मील है। देवगढ़ अब उजड़ सा एक बहुत छोटा ग्राम है। इसीसे यहाँ पर खाने पीने की यथेष्ट चीजें नहीं मिलती हैं। खाने-पीने की सामग्री का प्रबंध यात्रियों को ललितपुर या जाखलौन से करना पड़ता है। पहले देवगढ में यात्रियों को ठहरने के लिये कोई सुरक्षित स्थान नहीं था किन्तु अब यहाँ पर उनके ठहरने के लिये एक अच्छी धर्मशाला बन गई है जिसमें वे आराम के साथ ठहर सकते हैं।

देवगढ़ ग्राम बेतवा नदी के मुहाने पर बसा हुआ है। इस प्रान्त में पहले सहरियों का राज्य था। इन पर गौड़ों ने विजय पाई। गौड़ों से गुप्तवंशीय राजाओं के हाथ में देवगढ आया। स्कन्दगुप्त आदि इस वंश के कई राजाओं के शिलालेख देवगढ में अभी तक पाये जाते हैं। गुप्तवंश के अनन्तर कन्नौज के भोजवंशी राजाओं ने यहाँ पर राज्य किया। इसके उपरान्त देवगढ चन्देलवंशी राजाओं के हाथ में आया। इनके शासन-काल में देवगढ़ एक विशाल एवं सुन्दर नगर था। ललितपुर के आसपास अनेक इस वंश के अनेक शिलालेख पाये जाते हैं। इस वंश की राजधानी महोबा थी। इस वंश के वंशज ललितपुर के निकट गजराहा ग्राम में अभी तक पाये जाते हैं। सन् १८११ में जब महाराजा सिंधिया की ओर से कर्नल वैपटिस्टी फिलोज देवगढ़ के ऊपर चढ़ कर आये थे, उन्होंने तीन दिन बराबर लड़कर बाद को देवगढ़ पर कब्जा कर लिया था। चन्देरी के बदले में महाराज सिंधिया ने देवगढ़ सरकार हिंद को दिया था, तभी से सरकार हिंद का कब्जा इस ग्राम पर है।

देवगढ़ पर्वत उत्तर-दक्षिण लगभग एक मील लम्बा और पूर्व पश्चिम छः फर्लांग चौड़ा है। पर्वत की चढ़ाई सुगम एवं सीधी है। चढ़ाई तै करने पर एक किले का खण्डहर द्वार

मन्दिर नं० १२ के बरामदे में पाषाण पर खिची हुई हैं। इनमें प्रत्येक पर यक्षी का नाम खुदा हुआ है। दयाराम साहनी के मत से यक्षियों की ऐसी मूर्तियाँ उत्तरीय भारत में कहीं भी नहीं पायी जाती हैं। यक्षियों में से ही मंदिर नं० १९ में पायी जानेवाली ऊपर कही हुई सरस्वती, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी एवं पद्मावती की मूर्त्तियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। देवगढ़ में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पाँचों परमेष्ठियों की मूर्ति अनेकत्र उपलब्ध होती हैं। बल्कि कुछ व्यक्तियों ने असावधानी से इन आचार्य मूर्ति... गौतम बुद्ध की मूर्ति समझ बैठने की भूल की है। वास्तव में देवगढ़ में ... मूर्ति के अतिरिक्त और किसी धर्म की मूर्त्तियाँ देखने में नहीं आतीं ... मन्दिर में भी कई विशिष्टताओं में से एक है। हाँ, मूर्त्तियों के केशों ... उनपर बौद्ध मूर्त्तियों की गहरी छाप ... मन्दिर आगरा निवासी श्रीमान् सेठ पद्मचन्द ... बनाये गये एक कोट के अन्दर वर्तमान है, जिसमें इधर-उधर पड़ी हुई यहाँ की सैकड़ों मनोहर भव्य मूर्त्तियाँ जो मनुष्यों तथा पशुओं के पैरों से रात-दिन रौंदी जाती थीं, पची कराई गई हैं। परन्तु मेरे ख्याल से ये मूर्त्तियाँ इस प्रकार दीवाल में पची न करा कर एक स्वतन्त्र मकान बनवा कर उसमें अगर विराजमान कर दी जातीं, तो अधिक सुन्दर होता; क्योंकि पची कराई गई इन मूर्त्तियों में से किसीकी भुजा टूट गई है, किसीकी टाँग अलग हो गई है, किसीके मस्तक का ही पता नहीं है। मनोहर मूर्त्तियों का यह विरूप बहुत खटकता है। दीवाल पर पची कराने के बाद भी यहाँ पर सैकड़ों सुन्दर मूर्त्तियाँ इधर-उधर रखी हुई नजर आती हैं। कम से कम इन मूर्त्तियों को एक जगह रखवाना परमावश्यक है। सोलहवाँ मन्दिर बहुत बड़ा नहीं है। इसमें कई मूर्त्तियाँ है। इन मूर्त्तियों में कुछ बड़ी भी हैं। सत्रहवाँ और अठारहवाँ मन्दिर विशाल हैं। इनमें बहुत मूर्त्तियाँ हैं। उन्नीसवें मन्दिर की मूर्त्तियों की कारीगरी दर्शनीय है। बल्कि मन्दिर के बाहर बरामदे में रखी हुई चार भुजावाली खड़ी हुई सरस्वती की, षोड़श भुजावाली गरुड़ पर बैठी हुई चक्रेश्वरी की, अष्ट भुजावाली बैल पर बैठी हुई ज्वालामालिनी की और पद्मावती की मूर्त्तियाँ बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें से एक में वि० सं० ११२६ खुदा है। चारों मूर्त्तियों की समानता को देखकर दर्शक आसानी से कह सकते हैं कि ये सब एक ही समय की बनी हुई हैं। बीसवाँ मन्दिर विशाल है। इसकी मूर्त्तियाँ भी सुन्दर है। इक्कीसवें मन्दिर में पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। बाईसवाँ मन्दिर बहुत छोटा है। इसमें सिर्फ तीन मूर्त्तियाँ हैं। इसी प्रकार २३ और २४ नंबर वाले मन्दिर भी छोटे हैं। २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ नंबर वाले मन्दिर एक ही स्थान में पास-पास हैं। ये सब मन्दिर परिमाण में छोटे हैं। इनकी कारीगरी भी विशेष उल्लेखनीय नहीं है। इन मन्दिरों में से प्रत्येक में कई मूर्त्तियाँ

शिष्य त्रिभुवनकीर्ति आदि आचार्यों, अर्जिकाओं और पण्डितों तथा महीन्द्रसिंह, साहसिंह, सावित्री, सनाटी, श्रीसिंह, जसदेव, नेमिचन्द्र, विरच(इन्द्र), सघश्री का पति जुगराज, राजपाल और उनकी पत्नी, लखनासारी, प्रभाकर, लालसा, फह्लन, सदिया, वसदेव का पुत्र कल्याणसिंह, पाहुन का पौत्र केशव, सोमती और उनकी भगिनी धनिया, राजपाल, मठपति जज और माई प्रान्त तथा शिवदेव आदि दानी एवं निर्माताओं का उल्लेख पाया जाता है।

... लेख नं० ३९ म चन्द्रकीर्ति की मूर्ति स्थापित करने का जिक्र है। मालूम होता है कि लगेगी। हाँ, ... आचार्य थे।

रहे हैं। बाहर क धर्मप्रेमी ... लगता है कि देवगढ़ का अपर नाम 'लच्छगिरि' भी था।

चाहिये। परमानन्दजी बरैया, ललि... लेख मिलता है।

जीर्णोद्धार के लिये बाहर के उदार दानी म... जाता है।

मरम्मत का कार्य आशुगति से चलना चाहिये। ... मन्दिर ...

चूने-गारे का अंश लेशमात्र भी नहीं है। यही कारण है कि लगभग ८०० वर्ष पुराने ये सब मन्दिर अपनी लम्बी आयु को निरन्तराय काटते जा रहे हैं। हाँ, कुछ मन्दिर पूर्व ही धराशायी हो गये हैं अवश्य। यहाँ पर जहाँ-तहाँ उपलब्ध सैकड़ों मूर्तियाँ ही इस बात का ज्वलन्त उदाहरण हैं।

अब देवगढ़ की मूर्त्तियों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। यहाँ पर मन्दिर नं० १२ म विराजमान शान्तिनाथजी की १२ फीटवाली खड्गासन मूर्त्ति ही सबसे बड़ी है। ४ ५ फीट की मूर्त्तियाँ कई हैं। १० फीट की भी तीन मूर्त्तियाँ हैं। पार्श्वनाथ की मूर्त्ति क मस्तक पर प्रचलित पद्धति के अनुसार फण न बना कर मूर्त्ति क दोनों बगल में विशालकाय दो सर्प बना दिये गये हैं (मन्दिर नं० ६ का परिचय देखें)। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, की मूर्त्ति में जटाएँ बना दी गई हैं। (यह मूर्त्ति सेठ पद्मचन्दजी के द्वारा बनवाये गये कोट क अन्दर रखी हुई है।) यहाँ पर तीर्थङ्कर, बाहुबली, यक्ष, यक्षी, द्वारपालक आदि देव देवियों की मूर्त्तियों के अतिरिक्त मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका आदि की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं। यहीं उपर्युक्त मन्दिरों म कहीं ऐसी भी मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें एक स्त्री और एक पुरुष अपनी गोद में एक-एक बच्चा लिये वृक्ष के नीचे पास पास खड़े हैं। इन मूर्त्तियों क सम्बन्ध में श्रीयुत दयाराम साहनी, एम० ए० का कहना है कि ये बच्चे अवसर्पिणी के सुषम सुषम समय की प्रसन्न जोड़ियाँ हैं, और जिसके नीचे स्त्री पुरुष खड़े हैं, वह वृक्ष कल्पद्रुम है, जिससे उस जमाने में मनुष्यवर्ग की सभी इच्छायें पूर्ण होती थीं। मन्दिर नं० १२ के सामने विराजमान बाहुबली की मूर्त्ति में जो विशिष्टता दृष्टिगत होती है, उसका उल्लेख ऊपर कर चुका हूँ। विशेष महत्त्व यहाँ का उन २० मूर्त्तियों को दिया जाता है जो यक्षियों की २४ मूर्त्तियों में स

जैन आगम मे संवत्सर का मान चार प्रकार का माना गया है।

(१) नाक्षत्र संवत्सर = १२ नाक्षत्र मास = १२ × २७$\frac{२१}{६७}$ दिन = ३२७$\frac{५१}{६७}$ दिन

(२) युगसवत्सर =

(३) प्रमान संवत्सर —

(४) शनि संवत्सर

इनमे से पहले नाक्षत्र सम्वत्सर के १२ भेद हैं। श्रावण, भाद्रपद आदि ... बृहस्पति सभी नक्षत्र समूह को भोग कर पुनः अभिजित् पर आता है तब यह महानाक्षत्र संवत्सर होता है। इसका समय १२ वर्ष का है।

चान्द्रवर्ष = २९$\frac{३२}{६२}$ × १२ = ३५४ + $\frac{१२}{६२}$ दिन, अधिक मास सहित चान्द्रवर्ष = ३८३$\frac{४४}{६२}$ दिन सौरवर्ष = १२ × ३० ... [illegible]।

एक पंचवर्षीय युग मे २४ पर्व होते हैं।

प्रमान संवत्सर के पॉच भेद है :—

(१) सावन (२) सौर (३) चान्द्र (४) बार्हस्पति (५) नाक्षत्र। इनमे से सावन संवत्सर को कर्म-संवत्सर भी कहते हैं। इसके कर्म संवत्सर नाम पड़ने का यह कारण मालूम पड़ता है कि साधारण काम काजी लोग ३६० दिन मे ही अपने वर्ष के कार्य को पूरा करते हैं। इसीसे इस संवत्सर का नाम कर्म संवत्सर पड़ा होगा।

एक चान्द्र संवत्सर मे ३५४$\frac{१२}{६२}$ दिन होते हैं; अतएव एक चान्द्र मास मे $\frac{३५४\frac{१२}{६२}}{१२}$ = २९$\frac{३२}{६२}$ दिन होते हैं और एक चन्द्रमास मे दो पक्ष होते है। इसीलिये २९$\frac{३२}{६२}$ दिन = $\frac{२९\frac{३२}{६२}}{२}$ दिन = २९$\frac{३२}{६२}$ × १५ मुहूर्त = ४४२$\frac{४६}{६२}$ मुहूर्त शुक्ल पक्ष और इतने ही मुहूर्त कृष्ण पक्ष के भी होते हैं। इसी हिसाब से एक तिथि का मान = $\frac{२९\frac{३२}{६२}}{३०}$ दिन = $\frac{६१}{६२}$, दिन = $\frac{६१}{६२}$ × ३० = २९$\frac{३२}{६२}$ मुहूर्त। तिथि के भी दिन और रात्रि के भेद से दो भेद हैं। सौर दिन की अपेक्षा से दिन तिथि और रात्रि तिथि के पॉच-पॉच भेद हैं। उनका क्रम इस प्रकार है।

(१) नन्दा (२) भद्रा (३) जया (४) तुका (५) पूर्णा। और रात्रि तिथि के ये भेद हैं (१) अग्रावर्ती (२) भोगवर्ती (यासोमतो) (४) सर्वसिद्धा (५) शुभनामनी।

जैन ज्योतिष की गणना से एक वर्ष मे ५ ऋतुएँ होती हैं (१) वर्षा (२) शरद् (३) शिशिर (४) वसन्त (५) ग्रीष्म। ये ऋतुएँ भी चान्द्र और सौर दोनों ही प्रकार की होती हैं। जैन ग्रन्थों के उत्तरायण और दक्षिणायन का विचार भी प्राचीन तथा अर्वाचीन हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थो से भिन्न है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे अयन का विचार भी इस प्रकार लिखा है :

सावण बहुल पडिवए बालवकरणेअभिजिन्नक्खत्ते।
सव्वत्थ पडमसमये जुअस्स आदि वियाणाहि॥

तत्र उत्तर यण कुर्वन् सूय सर्वदैव अभिजा नक्षत्रेण सह योगमुपागच्छति। दक्षिणायन कुर्वन् पुष्येणेति च।

अर्थात् श्रावण वदी प्रतिपद् बालवकरण, अभिजित नक्षत्र में दक्षिणायन प्रारम्भ होता है। यह युग का पहला दक्षिणायन है। एक युग के शेष अयनों का वर्णन इस प्रकार है --

प्रथमा बहुल पडिवए बिइया बहुलस्स तेरसीदिवसे।
सुद्धस्स य दसमीए बहुलस्स य सत्तमीए उ ॥
सुद्धस्से चउत्थीए पवत्तये पचमी उ आउट्टी।
एया आवुट्टीयो सव्वाओ सावणे मासे।
बहुलस्स सत्तमीए पडमा सुद्धस्स तो चउत्थीए।
बहुलस्स य पडिवए बहुलस्स य तेरसी दिवसे॥
सुद्धस्स य दसमीए पवत्तए पचमी आउट्टी।
एता आउट्टीओ सव्वाओ माहमासम्मि।

अत एक युग में अयन इस प्रकार के होंगे—

सूर्य प्रज्ञप्ति के अनुसार अयनवृत्ति				वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार अयनवृत्ति			
अयन	मास और पक्ष	तिथि	नक्षत्र	अयन	मास और पक्ष	तिथि	नक्षत्र
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	प्रतिपत्	अभिजित	उत्तरायण	माघ शुक्ल	प्रतिपत्	धनिष्ठा
उत्तरायण	माघ कृष्ण	सप्तमी	हस्त	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	सप्तमी	चित्रा
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	त्रयोदशी	मृगशिर	उत्तरायण	माघ शुक्ल	त्रयोदशी	आर्द्रा
उत्तरायण	माघ शुक्ल	चतुर्थी	शतभिष	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	चतुर्थी	पूर्वाभाद्रपद
दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	दशमी	विशाखा	उत्तरायण	माघ कृष्ण	दशमी	अनुराधा
उत्तरायण	माघ कृष्ण	प्रतिपत्	पुष्य	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	प्रतिपत्	आश्लेषा
दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	सप्तमी	रेवती	उत्तरायण	माघ शुक्ल	सप्तमी	अश्विनी
उत्तरायण	माघ कृष्ण	त्रयोदशी	मूल	दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	त्रयोदशी	पूर्वाषाढ़ा
दक्षिणायन	श्रावण शुक्ल	नवमी	पूर्वाफा०	उत्तरायण	माघ कृष्ण	चतुर्थी	उत्तराफाल्गुनी
उत्तरायण	माघ कृष्ण	त्रयोदशी	कृत्तिका	दक्षिणायन	श्रावण कृष्ण	दशमी	रोहिणी

इस चक्र से भी प्रतीत होता है कि जैन शास्त्रों की अयनवृत्ति हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों से नहीं मिलती है। क्योंकि हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थ 'वेदाङ्ग

ज्योतिष' है और इसकी अयनप्रवृत्ति जैन प्रक्रिया से भिन्न है; अतएव यह मानना पड़ेगा कि जैन ज्योतिष स्वतन्त्र है। परन्तु बाद मे विकसित नहीं हुआ है और इसीसे यह पिछड़ गया है।

पर्व और तिथियों मे नक्षत्र लाने का जैन ज्योतिष का प्रकार यह है

नक्षत्राणां परावर्ते चन्द्रिसम्बन्धिनामथ।
ब्रूमहे प्रत्यहोरात्रं सूर्यसम्बन्धिनामपि॥
भवत्यभिजिदारम्भो युगस्यप्रथमक्षणे।
अस्य पूर्वोक्ता शीतांशु भोगकालादनन्तरम्॥
श्रावणं स्यात्तस्य चेन्दुभोगकालनतिक्रमे।
एतिदेत्येवमादीनि ज्ञेयानि निखिलान्यपि॥
अथेन्दुना भुज्यमानमहोरात्रे विवक्षते।
इष्टे तिथौ च नक्षत्रं ज्ञातुं करणमुच्यते॥ इत्यादि

काल लोक प्रकाश पृ० ११४।

अर्थात् युगादि में अभिजित् नक्षत्र होता है। चन्द्रमा अभिजित् को भोग कर श्रवण से शुरु होता है और अग्रिम प्रतिपत् को मघा नक्षत्र पर आता है। इस प्रकार से सम्पूर्ण पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने चाहिये। इसके गणित का नियम इस प्रकार है—पर्व की संख्या को १५ से गुणा कर गत तिथि संख्या को जोड़कर जो हो उसमे २ घटा कर शेष मे ८२ का भाग देने से जो शेष रहे उसमे २७ का भाग देने पर जो शेष आवे, उतनी ही संख्या वाला नक्षत्र होता है, परन्तु नक्षत्र गणना कृत्तिका से लेनी चाहिये।

दैनिक ग्रहों के नक्षत्रों का क्रम

चन्द्र गगन-खण्ड = १७६८
रवि गगन-खण्ड = १८३०
नक्षत्र गगन-खण्ड = १८३५
} ये गमन करने के कलात्मक टुकड़े है।

अभिजित् का मान ६३० गगन-खण्ड, जघन्य नक्षत्रो का १८०५ गगन-खण्ड, मध्यम नक्षत्रों के २०१० गगन-खण्ड, उत्तम नक्षत्रों के ३०१५ गगन-खण्ड है। यह नक्षत्रों की कलात्मक मर्यादा का मान है। इस पर से चन्द्रमा के प्रत्येक नक्षत्र का मान इस प्रकार होगा—

(१८३५—१७६८)=६७ चन्द्रमा की कलात्मक स्वतंत्र गति है। इस गति का चन्द्रमा की मर्यादा मे भाग देने से दैनिक नक्षत्र अथवा चन्द्रमा के नक्षत्र का मान होगा।

[illegible]=९,४ अभिजित् का मान हुआ। [illegible]=१५ मुहूर्त चन्द्रमा के प्रत्येक जघन्य नक्षत्र का मध्यम मान हुआ।

[illegible] = ३० मुहूर्त यह चन्द्रमा के प्रत्येक मध्यम, [illegible]=४५ मुहूर्त यह चन्द्रमा के प्रत्येक उत्तम नक्षत्र का मान हुआ।

(१८३५—१८३०)=५ कलात्मक मध्यम सूर्य गति हुई, जो कि आनयन के मान से ५९° ८" के बराबर होती है। इसका नक्षत्रों की मर्यादा में भाग देने से सूर्य-नक्षत्र मान का प्रमाण आता है।

[illegible]=१२६ मुहूर्त अर्थात ४ दिन ६ मुहूर्त सूर्य अभिजित् नक्षत्र के साथ रहता है।

जैन ग्रन्थों की मान्यता के अनुसार उत्तम, मध्यम और जघन्य नक्षत्रों का विभाग इस प्रकार है—

उत्तम नक्षत्र—रोहिणी विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, ये ६ नक्षत्र उत्तम संज्ञक हैं।

मध्यम नक्षत्र—अश्विनी कृत्तिका मृगशिर, पुष्य मघा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद पूर्वाफाल्गुनी, मूल श्रवण धनिष्ठा, रेवती ये पन्द्रह नक्षत्र मध्यम संज्ञक हैं।

जघन्य नक्षत्र—शतभिष भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र जघन्य संज्ञक हैं।

इन नक्षत्रों की सिद्धि उपर्युक्त प्रकार से ही जाननी चाहिये। परन्तु यह पञ्चाङ्ग प्रणाली मध्यम मान से है। इसको स्पष्ट बनाने के लिये देशान्तर, कालान्तर संस्कार अवश्य करने पड़ेंगे, तभी यहाँ का स्पष्ट मान आयेगा।

दि० जैन ग्रन्थों में देशान्तर, कालान्तर का विचार मुझे अभी तक स्पष्ट रूप से नहीं मिला है सम्भव है किसी ग्रन्थ में हो। परन्तु [illegible] मान्यता के आधार पर से देशान्तर संस्कार निम्न प्रकार से किया जाता है।

पहिले किसी भी देश की पलभा का ज्ञान करके उसको तीन स्थान में रखकर पहले स्थान में १० से, दूसरे में ८ से और तीसरे में १० से गुणा करना चाहिये। तीसरे स्थान के गुणनफल में तीन से भाग देना चाहिये। इस प्रकार पूर्वोक्त तीन चर खण्ड आयेंगे।

पुनः सायन सूर्य का भुज बना कर उसमें राशि संख्या तुल्य चर खण्ड का योग करके उसमें अंशादि से गुणे हुए भोग्य खण्ड का ३०वाँ भाग जोड़ने से चर होता है। यह पुनरादि

६ राशि मे सूर्य हो तो धन तथा मेषादि ६ राशि मे सूर्य हो तो ऋण होता है। इस चर का मध्यम रवि की विकला मे संस्कार करने से रवि स्पष्ट होता है और चर को २ से गुणा कर ९ का भाग देने से जो लब्ध आवे, उसका देशान्तर संस्कृतमध्यम चन्द्रमा की विकला में संस्कार करने से चन्द्रमा स्पष्ट होता है। चन्द्रमा के फल मे देशान्तर, भुजान्तर, चरान्तर ये तीन संस्कार किये जाते हैं तब चन्द्रमा स्पष्ट होता है। इसी मान्यता के अनुसार अन्य बुधादिक ग्रहो का भी साधन किया जाता है। इस प्रकार से संक्षेप मे पञ्चाङ्ग प्रणाली पर प्रकाश डाला गया है। कभी अवकाश मिलने पर ग्रह और नक्षत्रों के स्पष्टीकरण की प्रक्रिया को भी पाठकों के सामने रखूँगा।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

दिल्लि—१४१ सम्भवतः भारत की राजधानी दिल्ली का द्योतक है। दिल्ली का प्राचीन नाम इन्द्रप्रस्थ है। यह पाण्डवों की राजधानी थी। यहाँ के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान थे। मुसलमानों ने दिल्ली को कई दफे लूटा था और मन्दिरों एवं मूर्तियों को नष्ट किया था। कुतुबमीनार के पास जो मस्जिद बनी हुई है, वह २७ हिन्दू व जैनमन्दिरों को तोड़ कर बनाई गई थी। (इम्पीरियल गैजेटियर ऑव इण्डिया २।१२६) आज भी वहाँ खण्डित जिनमूर्तियाँ पड़ी हुई हैं।*

दोरसमुद्र (द्वारावती)—४५, ५३, ५६, ९०, १२४, १४४, ३६०, ४८६, ४९७ इत्यादि। होय्सल नरेशों की राजधानी थी। होय्सल राजवंश के प्रतापी राजा विष्णुवर्द्धन ने दोरसमुद्र में राजधानी स्थापित की थी। वह स्वयं और उनकी महारानी सान्तलदेवी जैनधर्म के उपासक थे। यद्यपि उपरान्त विष्णुवर्द्धन वैष्णव हो गये थे परन्तु फिर भी वह जैनों को दान देते रहे थे। उनकी रानी अन्त समय तक जैनी रही थी। उन्होंने अनेक सुंदर जिनमन्दिर और मूर्त्तियाँ निर्माण कराई थीं। निस्सन्देह दोरसमुद्र जैनधर्म का मुख्य केन्द्र था। वहाँ राजा और प्रजा दोनों ने मिलकर जैनधर्म को उन्नत बनाया था। विष्णुवर्द्धन के मुख्य सेनापति दण्डनायक गङ्गराज थे। वह द्वारासमुद्र में रहते थे और जैनधर्म के स्तंभ थे। उन्होंने इतने अधिक जिनमन्दिर बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार कराया कि समूचा गङ्गवाडि प्रदेश, जिस पर वह शासन करते थे, कोपण तीर्थ की तरह चमक उठा। दोरसमुद्र में भी उन्होंने जिनमन्दिर बनवाया था। उनके पुत्र बोप्पन भी सेनापति थे। उन्होंने अपने पिता की स्मृति में 'द्रोहघरट्टजिनालय' नामक एक मनोहर मन्दिर दोरसमुद्र में बनवाया था और उसमें पार्श्वनाथ भगवान् की मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान की थी। उस समय विष्णुवर्द्धन नरेश एक शत्रु पर विजय पाकर उस मन्दिर में दर्शन करने आये। उन्होंने अपनी 'विजय' के उपलक्ष में भगवान का नाम 'विजय पार्श्व' रक्खा और उसी समय जो उनके पुत्र

---

* हाल ही में—ता० २९-८-३१ [illegible] जब मैं देहली गया था तब श्रीमान् बा० रामकृष्ण जी के साथ कुतुबमीनार देखने गया था। मीनार के पास में लौह स्तम्भ के सामने जो मस्जिद है उसमें खुदी हुई [illegible] खण्डित अवस्था में वर्तमान अनेक जिन मूर्तियों को मैंने स्वयं देखा है। बल्कि इन मूर्तियों के फोटो भेजने के लिये मैं बा० रामकृष्ण जी से कह आया हूँ। फोटो के प्राप्त होने पर भास्कर की किसी आगामी किरण में उन फोटो को मैं अवश्य छाप दूंगा। —के० भुजबली शास्त्री

हुआ था, उसका नाम विजयनरसिंह रक्खा था। विष्णुवर्द्धन के उपरांत भी दोरसमुद्र जैनधर्म का केन्द्र पूर्ववत् रहा था। नारसिंह के प्रमुख सेनापति हुल्ल ने जैनधर्म को उसी तरह प्रभावशाली रक्खा जिस तरह चामुण्डराय और गङ्गराज ने रक्खा था। एक दफा नरसिंह महाराज अपनी रणविजय यात्रा से लौटते हुए श्रवणबेल्गोल पधारे थे। वह विन्ध्यगिरि पर्वत पर गये और वहाँ गोम्मटेश्वर के दर्शन करके कृतार्थ हुए। सेनापति हुल्ल ने वहाँ पर उस समय एक चतुर्विंशति तीर्थंकर जिनालय बनवाया था। महाराज नरसिंह ने उसके भी दर्शन किये और स्नेहपूर्वक उसका नाम 'भव्यचूडामणि' रक्खा। सेनापति हुल्ल स्वयं 'सम्यक्त्वचूडामणि' कहलाते थे। सम्राट् ने मंदिर के खर्च के लिये सवणेरु नामक ग्राम भी भेंट किया था। उपरान्त वीरवल्लालदेव (द्वितीय) के समय में भी दोरसमुद्र में जैनधर्म का सितारा चमकता रहा था। महाराज वल्लालदेव स्वयं जैनधर्म के संरक्षक थे। इन महाराज के राजश्रेष्ठी का नाम संभवत देवसेट्टि था। देवसेट्टि ने एक जिनालय दोरसमुद्र में बनवाया, और उसका नाम 'वीरवल्लालजिनालय' रक्खा। देवसेट्टि की प्रार्थना पर वल्लालराज ने उस मंदिर के लिये कई ग्राम भेंट किये थे। दोरसमुद्र में एक समय राज्यमान्य गुरु, वादीभसिंह, तार्किकचक्रवर्ती श्रीपाल त्रैविद्यदेव विशेष प्रख्यात थे। जनता में उनकी महती प्रतिष्ठा थी। उनके शिष्य दोरसमुद्र के प्रमुख व्यापारी सर्वश्री मारिसेट्टि, कामिसेट्टि, भरतसेट्टि और राजसेट्टि भी लोकमान्य पुरुष थे। उन्होंने अन्य व्यापारियों को साथ लेकर दोरसमुद्र में 'नगरजिनालय' नामक एक उत्तुंग मंदिर निर्मापित कराया और उसमें 'अभिनवशान्तिनाथ' भगवान् की प्रतिमा विराजमान की! राजसेट्टि प्रतापचक्रवर्ती वीर वल्लालदेव के पास यह शुभसमाचार लेकर गये। सम्राट् सुनते ही भगवान् के दर्शन करने के लिये चल पड़े। वह शान्तिनाथ भगवान् की अष्टप्रकारी पूजा देख कर बहुत प्रसन्न हुए। वह और भी आनन्दित हुए जब उन्होंने देखा कि उस मंदिर में सत्पात्रों को आहारदान देने का भी प्रबन्ध है। उस समय ग्रामवासियों की प्रार्थना स्वीकार कर सम्राट् ने दो ग्राम गुरु वज्रनन्दी को मंदिर के जीर्णोद्धार, पूजन और आहारदान के लिए दिये। पहले यहाँ दोरसमुद्र में नृप विष्णुवर्द्धन के संधिविग्रहक मंत्री पुनीष भी जैनधर्म के अनन्य पोषक थे। उन्होंने दोरसमुद्र के वस्तिहल्लि नामक भाग में एक पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया था। उनकी पत्नी जकियव्वे ने भी एक जिनालय निर्माण कराया था, जिसकी पूजा, जीर्णोद्धार और दानशाला के लिए पुनीष ने दो ग्राम भेंट किये थे। सेनापति विष्णु ने वहाँ एक विष्णुवर्द्धन जिनालय बनवाया था। सम्राट् नरसिंह तृतीय भी जिनेन्द्रभक्त थे। एक दफा वह सेनापति बोप्प द्वारा निर्मित विजय पार्श्वबस्ति में आए और दर्शन किये। मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। अपने गुरु माघनन्दी को उन्होंने भूमिदान दिया, जिससे 'त्रिकूट-रत्नत्रय-शान्तिनाथ-जिनालय' का खर्च चले। इस

प्रकार द्वारसमुद्र में राज्याश्रय को प्राप्त हुआ जैनधर्म विशेष उन्नतिशील था। लोगों की रुचि स्वत ही धर्म की ओर जा रही थी। दोरसमुद्र महाभाग्यशाली था कि वहाँ निरंतर महाज्ञानी ध्यानी मुनिराज विद्यमान रहते थे। वे जनता को सन्मार्ग दिखाते थे। अन्त में सल्लेखनाव्रत से ऐहिकलीला समाप्त करके अपना नाम अमर कर जाते थे। सन् १२७४ ई० में मुनि बालचन्द्र पण्डितदेव दोरसमुद्र में खूब प्रसिद्ध थे। वह देशीयगण, इंगुलेश्वर बलि और श्रीसमुदाय के साधुरत्न थे। वह महान् विद्वान् थे—सारचतुष्टय पर उन्होंने टीका रची थी। श्रीनेमिचन्द्र भट्टारक उनके दीक्षागुरु थे। एक दिन उनके सम्मुख चतुर्वर्ण संघ इकट्ठा हुआ, जिसको लक्ष्य करके उन्होंने कहा 'आज दो पहर को मैं समाधि धारण करूँगा। आप सब लोगों को धर्मलाभ हो, यही भावना है। आप लोग मुझे क्षमा करें।" उन्होंने सन्यास धारण किया—उसके नियम पाले—पल्यङ्कासन से णमोकार मंत्र का स्मरण करते हुए शरीर का प्रशंसनीय उत्सर्ग किया। इस पुण्य अवसर पर दोरसमुद्र के भव्य पुरुषों ने खूब उत्सव मनाया व्रतनियम ग्रहण किये और अपने गुरु की स्मृति में उनकी एन पंचपरमेष्ठियों की मूर्तियाँ निर्माण करा—पुण्यबंध किया। इस घटना के पाँच वर्ष बाद सन् १२७९ में अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव का समाधिमरण दोरसमुद्र में हुआ। यह मुनिराज एक बड़े तर्कवादी थे। इन्होंने प्रमाणद्वयी के अनुसार छंद, न्याय, शब्द व्याकरण सिद्धान्तादि शास्त्र को प्रतिपादा था। अपना मरण समय जान करके इन्होंने निर्भीकता से समाधिमरण किया। दोरसमुद्र के जैननागरिकों ने इनकी स्मृति में भी निषधि बनवाई। इसी तरह सन् १३०० में दोरसमुद्र में श्रीरामचन्द्र मलधारिदेव का सन्यास मरण हुआ था। (विशेष के लिये प्रो० सालेतोर की "मेडियेविल जैनीज्म" पुस्तक देखो) निस्सन्देह दोरसमुद्र उस समय एक विशेष समृद्धिशाली नगर था। शिलालेखों में उसका उल्लेख 'द्वारावतीपुरवर' रूप में ठीक ही हुआ है—वह यादवों की द्वारिका की सानी रखती थी। किन्तु आज होय्सल नरेशों की राजधानी धराशायी हुई अपने खण्डहरों में गतविभूति-वैभव को याद करके अट्टहास कर रही है। मैसूर रियासत के हासन जिले में हलेबीडु नामक स्थान ही प्राचीन दोरसमुद्र है। जो स्थान एक समय जैनियों के ७२० मंदिरों मूर्तियों और दानशालाओं से हराभरा था, वहाँ आज एक परकोटे के भीतर तीन मंदिर निःशेष हैं। उस परकोटे में अगणित जीर्ण और खण्डित मूर्तियाँ और शिल्पकीर्तियाँ बिखरीं पड़ी हैं। दोरसमुद्र की यह दशा मुसलमानों के हाथ से हुई—होय्सल नरेश उनके आक्रमण को रोक न सके। इसे कहते हैं कालचक्र— दिननके फेर से सुमेरु होत माटी को।'

धर्मस्थल, ४३३,—सन् १८१० में धर्मस्थल के कुमार हेग्गडे ने आकर मैसूर नरेश कृष्णराज वोडेयर को एक सनद दिखाई जिसके अनुसार बेल्गुल के लिए भूमिदान स्वीकृत

हुआ। यहाँ का हेग्गडेवंश प्राचीनकाल से जैनधर्म का रक्षक रहा है। धर्मस्थल मंगलूर से ३७ मील है।

धवलसरोवर या धवलसर—५४, १०८—श्रवणबेलगोल का अपर नाम है।

धारा नगरी—५७, १३८—परमारवंशी राजा भोज की राजधानी मालवदेश की धारा अभिप्रेत है। होय्सल नरेश एरेयङ्ग ने धारा को जीता था। (मालव मण्डलेश्वरपुरी धारामधात्रीन क्षणात्) धारा में जब परमारवंश के राजाओं का राज्य ९वीं से १२वीं शताब्दि तक था, तब जैनधर्म का बाहुल्य वहाँ था। परमार राजाओं से भी जैनमुनियों और जैन-कवियों ने सम्मान प्राप्त किया था। नृप मुञ्ज वाक्पतिराज द्वितीय ने श्रीमहासेन सूरि का आदर किया था। किन्तु राजा भोज इस वंश के प्रमुख नरेश थे। वह श्रीप्रभाचन्द्राचार्य की प्रतिभा से प्रभावित हुए थे और उनके चरणों में शीश नमाया था। नृप भोज स्वयं विद्वान थे। उन्हें धर्मसंवाद सुनने में रस आता था। एक दफा उनके दरबार में भी शान्तिसेन नामक जैनाचार्य पहुँचे। उन्होंने उन सब अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया, जो पं० अम्बरसेन से सफल वाद करने की शेखी मारते थे। जैनकवि धनपाल राजा भोज की सभा के एक रत्न थे। उन्होंने राजा भोज के हृदय पर अहिंसाधर्म का महत्व अङ्कित किया था। कवि धनंजय, आचार्य नेमिचन्द्र और नयनन्दी भी उन्हीं के राज्यकाल में धारा को सुशोभित करते थे।

परमार राजाओं में नरवर्म देव भी जैनधर्म के आश्रयदाता थे। भोज की तरह उन्हें भी धर्मसंवाद सुनने का शौक था। जैनाचार्य रत्नदेव ने एक शैव गुरु को वाद में परास्त करके राजा को प्रसन्न किया था। राजा विंध्यवर्म ने जैन पण्डित आशाधर का सम्मान किया था। कविवर आशाधरजी धारा में बहुत दिनों तक रहे थे। उनके समय में यहाँ जैन पण्डितों की अच्छी गोष्ठी थी। (देखो, भारत के प्राचीन राजवंश,' भा० १ पृ० १००—१२१ व 'संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग २, खण्ड २, पृ० १५२—१६०)।

—क्रमशः

गोम्मट शब्द की व्याख्या की सामग्री

[ले०—श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्]

गोम्मट शब्द जो कि श्रवणबेल्गोल, कारकल और वेणूर की गगनचुम्बी मूर्त्तियों के प्रख्यात नाम गोमटेश्वर में गर्भित है तथा जो प्राकृत के ग्रन्थ 'गोम्मटसार' के नाम में उपस्थित है, एक गम्भीर वाद विवाद का विषय रहा है। मुझे विश्वास है कि गोम्मटसार की कुछ गाथाओं में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका अर्थ प्रायः ठीक ठीक नहीं समझा गया है। इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट तथा ठीक रूप से समझने पर ही इस विवाद का निर्णय किया जा सकता है। मैं यहाँ आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक टिप्पणियों के सहित ऐसे स्थलों का अनुवाद उपस्थित करता हूँ। *

जीवकाण्ड गाथा नं० ७३३

अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ॥

"जय हो गोम्मटराय की, जिनके शिक्षा गुरु अजितसेन, जो कि जगद्गुरु हैं तथा मान्यवर गुरु आर्यसेन के सत्य आचरण तथा धार्मिक परम्परा के सहायक हैं।"

नोट—गण तथा समूह दोनों शब्दों का बार बार प्रयोग मुझे सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका का अनुसरण करने पर बाध्य करता है। इसमें गण से तात्पर्य जैन मुनियों का एक समुदाय अथवा श्रेणी है। सम्भवतः गाथा का मतलब है कि अजितसेन न आर्यसेन के सब गुण ही उपस्थित नहीं थे वरन वह गण के सहायक भी थे। चामुण्डराय बहुधा केवल 'राय' शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। यह एक उपाधि थी, जो उनकी दानशीलता की मान्यता के लिए राजमल्ल ने प्रदान की थी। गोम्मट एक वैयक्तिक नाम है तथा 'राय' चामुण्डराय की एक उपाधि है। हम यहाँ निम्नांकित बातें मिलती हैं।

---

* इस निबंध में निम्नलिखित ग्रन्थ तथा टीकाओं का उपयोग हुआ है—

१ गोम्मटसार जीवकाण्ड खूबचन्द्रकृत भाषा-टीका सहित। रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (RJS) बंबई १९१६।

२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड मनोहरलालकृत भाषा-टीका सहित (RJS) बम्बई १९२०।

३ गोम्मटसार की संस्कृत टीकायें—जीवतत्त्वप्रदीपिका (JP) और मंदप्रबोधिका तथा टोडरमलकृत सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका (SC) भाषा-टीका।

४ गोम्मटसार जीवकाण्ड अंग्रेजी अनुवाद—जिनामाम जैन (SBJ) भाग ५ सन् १९२७।

५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड अंग्रेजी अनुवाद—जिनामाम तथा ब्रह्मचारी शीतलप्रसादकृत (SBJ) भाग ६ १ सन् १९२७ तथा १९२९।

आर्य्यसेन प्राचीन समय के एक गुणवान गुरु थे, सम्भवतः सेन गण के। अजितसेन मे उनके ही समान गुण थे और वह सेन गण के एक सहायक थे। अजितसेन का वहुत सम्मान था, क्योंकि वह जगद्गुरु कहे गये हैं और चामुण्डराय उपनाम गोम्मटराय अजितसेन के एक शिष्य थे।

कर्म्मकाण्ड गाथा नं० ९६५ :

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटदेवेण गोम्मट रइयं।
कम्माण णिज्जरट्ठं तच्चट्ठवधारणट्ठं च ॥

"यह गोम्मटसंग्रह नाम का ग्रन्थ (सूत्र) एक आकर्षक ढंग (गोम्मटं) पर वर्द्धमान महावीर द्वारा कर्मों के विनाश तथा वास्तविकता तथा नियमों की पुष्टि की महत्ता दिखाने के लिए निर्माण किया गया है।

नोट :—सूत्र शब्द ग्रन्थ की पवित्रता तथा ग्रन्थकार के अधिकार का सूचक है। 'गोम्मट-संग्रह' ग्रन्थ का नाम है और अधिकतर यह 'गोम्मटसार' कहलाता है। 'सार' और 'संग्रह' समानार्थी शब्द हैं। जीवतत्त्वप्रदीपिका इस कृति का नाम 'गोम्मट-सार-संग्रह-सूत्रम्' देती है। समस्त जैन विद्वानों तथा लेखकों का विश्वास है कि जैनों के वर्तमान धर्मग्रन्थ स्वयं महावीर स्वामी की वाणी हैं। इसीलिये जीवतत्त्वप्रदीपिका मे लिखा है : 'गोम्मटदेवेन श्रीवर्द्धमान-देवेन'। गोम्मट चामुण्डराय का नाम है, जो साधारणतः तीर्थंकरों और विशेषतः श्रीमहावीर के भक्त थे। इस कारण श्रीमहावीर (अथवा तीर्थंकर, देखिये गाथा नं० ९६८) 'गोम्मटस्य देवः' नाम से सम्वोधित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार इसे तीर्थंकरों की कृति ठहराकर अपनी नम्रता प्रकट करता है। 'गोम्मटं' को हम 'सुत्तम्' का विशेषण कह सकते हैं अथवा जीवतत्त्वप्रदीपिका की तरह उसे क्रियाविशेषण मान सकते हैं। जीवतत्त्व-प्रदीपिका के अनुसार 'गोम्मटम्'='नय-प्रमाण-विषयम्', 'नय व प्रमाण विषय-सम्वन्धी' अथवा दूसरे शब्दों मे 'अधिकारपूर्ण तथा आकर्षक रूप से।' इसे विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा 'यह आकर्षक ग्रंथ गोम्मट-संग्रह।' मराठी मे गोम्मट शब्द का अर्थ है 'सुन्दर', 'सुहावनी', 'आकर्षक' इत्यादि। गोम्मट शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ सहित वार वार प्रयोग मुझे तो केवल गोम्मट उपनाम चामुण्डराय की प्रशंसा का एक ढंग प्रतीत होता है। जिनसेन ने भी वीरसेन के प्रति ऐसा ही किया है। इस नाम से भी श्री-महावीरजी सम्वोधित होते हैं। पद इस प्रकार है।

भूयादावीरसेनस्य, वीरसेनस्य शासनम्।
शासनं वीरसेनस्य वीरसेनकुशेशयम् ॥

इसके स्पष्ट अनुवाद की अभी तक कमी है।

कर्मकाण्ड गाथा न० ९६६

जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताण ।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥

'जय हो उस राय (चामुण्डराय) की, जिसके गुरु अजितसेन नाथ हैं जो कि गणधरदेव तथा अन्य असाधारण शक्तिधारियों के गुणों से विभूषित हैं।"

नोट —अजितसेन को गणधरों की कोटि में रक्खा गया है। गणधर खास तीर्थंकरों के शिष्य माने गये हैं, ऋद्धि से तात्पर्य उन कुछ अद्भुत तथा असाधारण शक्तियों से हैं, जो तप द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। यह आठ प्रकार की है, बुद्धि, क्रिया विक्रिया, तप बल, औषधि, रस, तथा क्षेत्र। सक्षेप में इसका अर्थ है कि साधु अजितसेन ने तप द्वारा महती शक्तियाँ प्राप्त की थीं।

कर्मकाण्ड गाथा न० ९६७

सिद्धं तुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचन्दकरकलिया ।
गुणरयणभूसणबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं ॥

"सिद्धान्त (जैन धर्मशास्त्र) रूपी पूर्वीय पर्वतों से उदय होते हुए श्रीनेमिचन्द्ररूपी दीप्तिमान पूर्ण (=वर) चन्द्र की किरणों द्वारा उत्पन्न किया हुआ ज्ञान सागर का ज्वारभाटा गुण रत्न भूषण (चामुण्डराय का उपनाम, अर्थ है गुणरूपी रत्नों का भूषण) पृथ्वी के धरातल को जलमग्न कर दे।"

नोट —जिस प्रकार कि समुद्र का ज्वारभाटा, जिसमें अनेक रत्न होते हैं पूर्णचन्द्र द्वारा जो कि पूर्वीय पर्वतों से उदय होता है उत्पन्न होता है और पृथ्वी को जलमग्न कर देता है, उसी प्रकार ग्रथकार चाहता है कि चामुण्डराय का, जिस 'गुणरत्न भूषण' की उपाधि प्राप्त हुई है ज्ञान, सिद्धान्तज्ञानी श्रीनेमिचन्द्र द्वारा 'पोषित' (पुष्ट) होता हुआ समस्त ससार मे प्रसरित हो जाय। पद श्लेष से परिपूर्ण है और इसलिए दुर्बोध है परन्तु अर्थ स्पष्ट है। हिन्दी अनुवाद के अनुसार, 'नेमिचन्द्र' चामुण्डराय द्वारा स्थापित नेमिनाथ की मूर्त्ति से तात्पर्य है। (देखिये गाथा ९६८)।

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य ।
गोम्मटरायविणिम्मियदक्खिणकुक्कडजिणो जयउ ॥

"जय हो धर्मशास्त्र गोम्मटसग्रह (गोम्मटसार) की, व सुन्दर पर्वत पर विराजमान गोम्मट जिन (जैन तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ की मूर्त्ति जो चामुण्डराय द्वारा निर्माण कराये हुए मंदिर में उपस्थित है) की तथा चामुण्डराय द्वारा स्थापित दक्षिण के कुक्कट जिन की मूर्त्ति की।

नोट :—यह एक महत्त्वपूर्ण गाथा है और बड़े ध्यानपूर्वक व्याख्या के योग्य है। प्रथम ग्रन्थकार इस ग्रन्थ गोम्मटसार की जय का इच्छुक है. दूसरे वह गोम्मट पर्वत पर विराजमान गोम्मट जिनके प्रति आदर प्रकट करता है। प्रारम्भिक विद्वानों ने समझा कि इसमें श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति का विवरण है परन्तु उनका किया हुआ अनुवाद निम्नलिखित कारणों से अशुद्ध है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका की संस्कृत टीका के अनुसार गोम्मट जिन का तात्पर्य्य श्रीनेमिनाथ की मूर्त्ति से है, (जो एक हाथ ऊँची है तथा इन्द्र-नील-मणि की बनी हुई है और चामुण्डराय द्वारा निर्मापित मंदिर मे विराजमान है।) इसके अतिरिक्त बाहुबली की मूर्त्ति की दूसरी पंक्ति मे पृथक् वर्णन है। हम ऊपर देख चुके हैं कि हमारे ग्रंथकार ने गोम्मटदेव व जिन का किस अर्थ मे प्रयोग किया है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका में दिये हुए अनुवाद में कोई असम्भव बात नहीं है इसलिए गोम्मटजिन का अर्थ है गोम्मट का मूर्त्ति, जो कि गोम्मट चामुण्डराय ने अपने बनवाये हुए मदिर मे स्थापित की थी। यह मंदिर श्रवणबेलगोल मे चन्द्रगिरि पर स्थित विख्यात चामुण्डराय बस्ति ही है। (देखिये गाथा ९७१)। जीवतत्त्व-प्रदीपिका के इस अनुवाद मे सत्यता का आधार दिखाई पड़ता है कि यह नेमिनाथ की एक मूर्त्ति है, जो एक हाथ ऊँची है व इन्द्रनीलमणि की बनी हुई है। सुख-नाशी में गर्भगृह द्वार के आसपास किनारों पर बनी हुई नेमिनाथ की यक्ष व यक्षिणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में चामुण्डराय बस्ति में नेमिनाथ की मूर्त्ति उपस्थित थी। आज मंदिर में लगभग ५ फीट ऊँची श्रीनेमिनाथ की प्रतिमा है। इस मूर्त्ति का उस मूर्त्ति से कोई संबंध नही है, जो चामुण्डराय द्वारा स्थापित की गई थी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह एचण द्वारा उस मंदिर के लिए बनवाई गई थी, जो इसने सन् ११३८ ई० से कुछ समय पूर्व निर्माण कराया था। यह बात कि यह मूर्त्ति श्रीनेमिनाथ की है, मुझे ऐसा अनुमान करने को उद्यत करती है कि मूल इन्द्र-नील-मणि की मूर्त्ति वहां पर न होने के कारण किसीने इस मूर्त्ति को एचण द्वारा निर्मापित किसी दूसरे मदिर से लाकर स्थापित करा दिया है। किसी प्रमाण के उपलब्ध न होने के कारण हमारे लिए यह कहना असम्भव है कि इस मूर्त्ति का क्या हुआ। गोम्मट जिन के अनुवाद के अनुसार 'गोम्मटशिखर' का अर्थ 'एक आकर्षक पर्वत' होता है और यह अर्थ चन्द्रगिरि के अर्थ से असंगत नहीं है। वह पर्वत दोनों में छोटा होने के कारण 'मोहक, आकर्षक' कहा जा सकता है। इस प्रकार दूसरी बार जिनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया है, वह श्रीनेमिनाथ की प्रतिमा है, जो चामुण्डराय ने अपने चन्द्रगिरि वाले मंदिर मे स्थापित कराई थी। तीसरे ग्रंथकार दाक्षिण-कुक्कट-जिन की, अर्थात् श्रवणबेलगोल मे विंध्यगिरि स्थित श्रीबाहुबली की विशाल मूर्त्ति की जय का अभिलाषी है। 'दक्षिण' शब्द बेलगोल की मूर्त्ति को पोदनपुर मे भरतजी द्वारा स्थापित बाहुबली की ५२५ धनुष की विशाल पौराणिक मूर्त्ति से भिन्न सिद्ध कर देती है।

कर्मकाण्ड गाथा ९६९

जेण विणिम्मियपडिमावयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ॥

"जय हो गोम्मट (चामुण्डराय) की जिसने प्रतिमा की स्थापना की जिसका मुख सर्वार्थ सिद्धि (सर्वोच्च स्वर्ग) के देवों तथा अवधिज्ञानधारी मुनियों द्वारा भी जो सम्मानपूर्वक देखा जाता हो।"

नोट —यह गाथा केवल ऊपर कथित बाहुबली की मूर्त्ति के वर्णन का जारी रखना मात्र है। रचयिता मुख्यतया बाहुबली की विशाल मूर्त्ति के मुख का वर्णन करता है। जिन महानुभावों ने उसका अवलोकन किया है वही उसकी सुन्दरता समझ सकते हैं। बाहुबली की सुन्दर मूर्त्ति का प्रशान्त मुख इतना आकर्षक तथा प्रभावशाली है कि महान् देवतागण तथा बड़े ज्ञानवान् साधु भी उसकी वन्दना को जाते थे।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७० ।

वज्जयणं जिणभवणं इसिपभारं सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं जेण कयं जयउ सो राओ॥

"जय हो (चामुण्ड) राय की जिसने एक जिनमन्दिर निर्माण कराया, जिसका नाम ईषत् प्राग्भार है, जिसकी नींव वज्रमयी है और जिस पर स्वर्ण कलश शोभायमान है और जो तीनों लोकों में अद्वितीय है।"

नोट —ईषत् प्राग्भार मुक्त जीवों का स्थान है। जैन धर्मानुसार यह लोकशिखर पर सिद्ध जीवों का निवास स्थान है। यह वास्तव में एक मधुर नाम है जो कि एक पवित्र भव्य एक मन्दिर का रख सकता है। मुझे विश्वास होता है कि रचयिता चन्द्रगिरि पर स्थित चामुण्डराय वस्ति का वर्णन करता है। मुख्यतः इस कारण कि इसमें एक विख्यात स्वर्णकलश (शिखर) अथवा कलश है। हम वहाँ पर स्वर्णकलश होने की आज आशा नहीं कर सकते, परन्तु सोने के पत्र से जो मढा हुआ होगा वह कलश आज भी चामुण्डराय वस्ति पर विद्यमान है। मन्दिर का आधार बड़ा भारी है और मन्दिर वहाँ पर लगभग एक हजार वर्ष से स्थित है इस कारण हमारे ग्रन्थ का यह कथन कि इसका आधार वज्रमय है—अक्षरशः सत्य है। सम्भवतः हमें नज़रयान करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके वास्तविक नाम ईषत् प्राग्भार का स्थान विख्यात चामुण्डराय वस्ति ने ग्रहण किया है।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७१ ।

जेणुब्भियथंभुवरिमजक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाण सुद्धपाया सो राओ गोम्मटो जयउ॥

"जय हो गोम्मटराय (चामुण्डराय) की, जिसने सिद्धों के पवित्र चरणों को अपने बनवाये हुए स्तम्भ पर के यक्ष के मुकुट के किरणरूपी जल मे धोया।"

नोट:--यह गाथा वर्णन करती है कि गोम्मटराय ने एक स्तम्भ निर्माण कराया था, जिस पर एक यक्ष बनवाया था। जिसके मुकुट में रत्न जडे हुए थे। मेरी सम्मति में यह श्रवण-वेलगोल के उस त्यागद-ब्रह्मदेव-स्तम्भ का वर्णन है जो दन्तकथाओं के अनुसार चामुण्डराय ने बनवाया था और इसकी पुष्टि एक शिलालेख, जिसका कुछ भाग अब प्रायः नष्ट हो गया है, से होती है। कुछ टीकाकारों के अनुसार यह गाथा एक बड़े ऊँचे स्तम्भ का वर्णन करती है परन्तु त्यागद-ब्रह्म-स्तम्भ इतना ऊँचा नही है।

कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७२।

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरकालं नामेण य वीरमत्तंडी॥

"सदा जय हो (चामुण्ड) राय की जिसने वीरमार्त्तण्डी नाम की देशी (कन्नड-टीका) रची, जब कि गोमट्टसार रचा जा रहा था।"

नोट:—इस गाथा की रचना असंतोषजनक है। जीवतत्त्वप्रदीपिका के अनुसार यह 'वीरमत्तंडो' पढ़ा जाता है क्योंकि वहाँ इसे 'राओ' का विशेषण कहा है। जीवतत्त्व-प्रदीपिका में 'जा कया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है। पं० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डराय की कन्नड-टीका का इसे एक उल्लेख समझते हैं। नरसिंहाचार्य्य के अनुसार चामुण्डराय ने ऐसी कोई रचना नही की है। इसका अर्थ केवल यह होता है कि इस ग्रंथ की कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाश मे नही आई है। जीवतत्त्वप्रदीपिका की प्रथम गाथा स्पष्ट रूप में कहती है कि इसका आधार एक कन्नड-टीका पर है। हमारे पास इस कथन के लिए कोई प्रमाण नही है कि यह चामुण्डराय की कृति है। हमें मालूम है कि कन्नड में गोम्मटसार की टीका है, जिसका नाम 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है, जिसे केशववर्णी ने सन् १३५९ ई० मे रचा था। वह अभय सिद्धांतचक्रवर्त्ती के शिष्य थे और धर्मभूषण के आदेशानुसार यह टीका की थी। वीरमार्त्तण्डी, जैसा कि गाथा मे मिलता है, देशी का विशेषण है और यह वृत्ति का नाम है। चामुण्डराय की उपाधि भी वीरमार्त्तण्ड थी, जो उन्होंने नोलम्बा के युद्ध मे अपनी वीरता का दिग्दर्शन कर के प्राप्त की थी। और यह असंगत प्रतीत नहीं होती कि उन्होंने इसका नाम अपनी एक उपाधि के नाम पर रक्खा हो। यदि हमारे देशी शब्द का अर्थ सत्य है तो इसका अर्थ है कि कन्नड जो कि एक द्राविड़ भाषा है एक प्राकृत भाषा के लेखक द्वारा देशी नाम से सम्बोधित की गई है। (यह भावानुवाद है। विवाद्य चर्चाओं के लिये इंडियन् हिस्टारिकल् क्वार्टर्ली, भाग १६, अंक ४ मे छपे हुए अंग्रेजी लेख पढ़ना चाहिए।)

—अनुवादक, नेमिचन्द्र जैन

जैन महिलाओं की धर्म-सेवा

[ले०—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

जैन धर्म का जन्म हुआ उत्तर भारत में, पर उसकी वृद्धि हुई दक्षिण भारत में। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महावीर स्वामी के समय में तथा उनके निर्वाण के बहुत दिनों बाद तक भी वस्तुत उत्तर भारत ही जैन धर्म का केन्द्र रहा, किन्तु दक्षिण भारत में उसके प्रचार के बाद उत्तर भारत पर से उसकी सत्ता घटने लगी और शीघ्र ही दक्षिण जैन मत का केन्द्र समझा जाने लगा। दक्षिण में इस मत के प्राबल्य के कई कारण हैं। इनमें एक विशिष्ट कारण है वहाँ की स्त्रियों का अतिशय धर्म के लिए अमूल्य त्याग।

पुरुषों और स्त्रियों के धर्म प्रेम के प्रभाव में अन्तर है। पुरुष अपने शास्त्र ज्ञान तथा अन्य साधनों की सहायता से दूसरों में अपने मत के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है, किन्तु स्त्री माता, पत्नी या बहिन के रूप में जो आन्तरिक प्रभाव डालती है, वह अक्षय होता है, और पीछे वही प्रस्फुटित होकर पुरुष का मार्ग प्रदर्शक होता है। दक्षिण भारत में हमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। इस बात की पुष्टि के लिए हम यहाँ पर कर्णाटक की धर्म प्रेमा महिलाओं की चर्चा करेंगे।

इतिहास हमें बतलाता है कि कर्णाटक में विभिन्न श्रेणियों की महिलाओं ने जैनमत के प्रचार में भाग लिया है। जहाँ राजपरिवारों की महिलाओं ने इस सम्बन्ध में उदारता और आत्मोत्सर्ग का परिचय दिया है, वहाँ साधारण घरानों की स्त्रियों ने भी प्रशंसनीय त्याग का आदर्श स्थापित किया है।

सबसे पहली स्त्री, जिसके धर्म प्रेम और त्याग का परिचय हमें इतिहास में मिलता है, निर्गुन्द परिवार की है। उसका नाम कन्दाच्छि था। वह परमगूल की पत्नी थी। यह परमगूल दुण्डु नामक निर्गुन्द युवराज का पुत्र था और दुण्डु के बारे में हमें यह पता है कि प्रसिद्ध विमलचन्द्र आचार्य से उसने राजनीति की शिक्षा पाई थी। कन्दाच्छि के विषय में हमें यह भी मालूम है कि वह मरवर्मा नामक व्यक्ति की पुत्री थी। कन्दाच्छि के बारे में कहा गया है कि 'वह सदा पुण्यकार्यों में आगे रहा करती थी।' उसने श्रीपुर नामक स्थान के उत्तरी हिस्से में एक जैन मन्दिर बनवाया था, जो 'लोकतिलक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परमगूल की प्रार्थना पर गंगनृपति, श्रीपुरुष, ने पूनल्लि ग्राम तथा कुछ अन्य भू भाग इस मंदिर की सेवा के लिये प्रदान किये थे। हमें इसका पता ७७६ ई० की एक राजाज्ञा से लगता है। इसके साक्षियों में अट्ठारह राजकर्मचारियों के नाम हैं।

राजाज्ञा की इसी तिथि से हमें कंदाच्चि के समय का भी पता लगता है। कंदाच्चि ७७६ ई० में निश्चय ही पूर्ण वयस्क रही होगी। साथ ही यह भी विदित होता है कि इस महिला का अपने परिवार पर ही नहीं; बल्कि गंग-राजपरिवार पर भी काफी प्रभाव रहा होगा।

इसके बाद प्रमुख जैन महिलाओं में जक्कियव्वे का नाम आता है। यह सत्तरस नागार्जुन की पत्नी थीं। यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के समय में थी। कृष्ण तृतीय का समय दसवीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध है। ९११ ई० में सत्तरस नागार्जुन, जो नागरखण्ड ७० का शासक था, मर गया। राजा ने उसकी जगह पर उसकी पत्नी को नियुक्त किया। इससे विदित होता है कि जक्कियव्वे में राज्य-कार्य-संचालन की विशिष्ट क्षमता थी। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "वह राज्य-कार्य करने की योग्यता से निपुण थी, जिनेन्द्र के शासन के प्रति आज्ञाकारिणी थी और लावण्यवती थी।" उसके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि उसने नागरखंड ७० की रक्षा की। स्त्री होने पर भी उसने अपूर्व साहस और वीरता का परिचय दिया था। जब उसका शरीर व्याधिग्रस्त हो गया, तो उसने अपना कार्य-भार अपनी पुत्री को सौंप कर सल्लेखना-क्रिया-द्वारा प्राण-विसर्जन कर दिया। बन्दणिके नामक पवित्र स्थान की 'वसदि' में उसने सल्लेखना क्रिया की थी।

इसी शताब्दि में एक और महिला का नाम आता है। इसका नाम अत्तिमव्वे है। यह सेनापति मल्लप्प की पुत्री और नागदेव की पत्नी थी। इसके पुत्र का नाम पडुवेल तैल था। अत्तिमव्वे का नाम कर्णाटक की जैन-महिलाओं में ही नहीं, बल्कि जैन-नारियों के इतिहास में सर्वोच्च है।

मल्लप्प पच्छिमी चालुक्य राजा, तैलप (९७३ ई०—९९७ ई०), का सेनापति था। उसकी पुत्री, अत्तिमव्वे, आदर्श धर्मचारिणी थी। उसने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्ति पुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार करवाई थीं और सोने तथा कीमती पत्थरों की डेढ़ हजार मूर्त्तियाँ बनवाई थीं। प्रसिद्ध जैन महिलाओं में से बहुत कम की तुलना अत्तिमव्वे से की गई है।

दसवीं शताब्दि के अंतिम भाग में पाम्बव्वे नाम की एक अत्यन्त धर्मशीला महिला हो गई है। यह भूतुग की बड़ी बहिन थी। यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह भूतुग गंगराज भूतुग ही था या अन्य कोई। इस महिला का विवाह पडियर दोरपय्य नामक व्यक्ति से हुआ था। दोरपय्य ने कई विवाह किये थे। पाम्बव्वे उसकी पहली पाणिगृहीता थी। वह नाणव्वे कन्ति नामक एक धर्माचार्या की शिष्या थी। पाम्बव्वे ने बड़ी कड़ाई के साथ धर्मपालन किया। उसने अपने सिर के बाल नोच डाले और तीस साल तक बड़ी कठिन तपस्या की। अन्त में पञ्च व्रतों का पालन करते हुए ९७१ ई० में शरीर-त्याग किया।

ग्यारहवीं शताब्दि में पद्मावतीयक्क का नाम प्रमुखरूप मे आता है। वह अभयचन्द्र की गृहस्थ शिष्या थी। १०७८ ई० म अभयचन्द्र का देहावसान होने पर उसने उस बसदि का निर्माण काय्य सम्पूर्ण किया, जिसका आरभ अभयचन्द्र ने किया था। उसने देवमंदिर के चारो ओर एक घेरा भी बनवा दिया।

इसी शताब्दि मे कर्णाटक के अन्य भागो में भी हमें धर्मकार्य में व्यावहारिक रूप से भाग लेनेवाली महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं। राजेन्द्र कोंगाल्व की माता पोचब्बरसि ने १०५० ई० मे एक बसदि का निर्माण कराया था। इस बसदि में उसने अपने गुरु गुणसेन पंडित की मूर्त्ति स्थापित की। १०५० इ० में एक बसदि का निर्माण कराया था। इस बसदि में उसने अपने गुरु गुणसेन पंडित की मूर्त्ति स्थापित की। १०५८ ई० म उसने इस बसदि को भूमिदान भी दिया।

मालनदेवी का स्थान भी धर्मचारिणी जैन महिलाओं में अत्यन्त ऊँचा है। यह महिला कदम्बराजा कीर्त्तिदेव की प्रथम पाणिगृहीता पत्नी थी। इसने १०७७ ई० में कुप्पटूर में पद्मनन्दि सिद्धांतदेव के द्वारा पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराया। इस जिनालय के लिए उसने एडेनाड नामक अत्यन्त सुन्दर स्थान प्राप्त किया। इस चैत्यालय के तैयार हो जाने पर मालादेवी ने सभी प्रमुख ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर उनकी पूजा की और इस जिनालय का नामकरण 'ब्रह्मजिनालय' उन्हा ब्राह्मणों से करवाया।

नागरखड के धार्मिक इतिहास मे चट्टलदेवी का नाम एक विशेष स्थान रखता है। यह महिला सान्तर-परिवार की थी। सान्तर परिवार जैनमतावलम्बी थे, और उसका धर्म प्रेम विख्यात है। चट्टलदेवी रक्कस गग की पौत्री थी। उसका विवाह पल्लवराजा काडुवेट्टी स हुआ था। अल्पवय मे ही उसके पति और पुत्र का देहावसान हो गया। इसके बाद उसने अपनी छोटी बहन के चार पुत्रो, —तैल गोमिग, ओड्डुग और बर्म,—को अपना मातृस्नेह समर्पित किया। इनके पिता सान्तर राजा थे, और उनका भी देहान्त हो चुका था। चट्टलदेवी ने अपनी बहिन के इन चारो पुत्रों को अपने ही पुत्रा के समान माना। इन्हीं की सहायता से उसने सान्तरों की राजधानी पोम्बुचपुर, म जिनालयों का निर्माण किया। इनमें से एक पचकूट या पचबसदि है जो 'उर्वितिलकम्' के नाम स विख्यात है। पचबसदि का निर्माण-काल १०७० ई० है। इस महिला ने अन्य प्रकार के भी परोपकार सम्बन्धी कार्य किये। इसने तालाब कुएँ, मदिर तथा घाटो के भी निर्माण करायें। इनके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र तथा औषध का दान देकर उसने बहुतों का उपकार किया।

गगराजपरिवार की महिलाएँ भी अपनी उदारता तथा धर्मशीलता के लिए प्रसिद्ध हैं। गग महादेवी को अनकातमत का प्रश्रय दाताओं में अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया गया है। यह

महिला भुजबल गंग हेम्माडि मान्धाता भूप की पत्नी थी। भुजबलगंग गंगवाडि और मेघुट्टिमंडलि १००० का शासक था। गङ्गमहादेवी को 'पट्टदमहादेवी' के नाम से भी पुकारा गया है। एक प्रशस्ति मे गङ्गमहादेवी को जिनेन्द्र के चरणारविन्दों में लुब्ध भ्रमरी' कहा गया है। इस महिला का समय बारहवी शताब्दि का पूर्वार्द्ध माना गया है, १११२ ई० मे वह विद्यमान थी।

एक दूसरी सान्तर-राजकुमारी पपादेवी है, जो अपने धर्म-कार्यों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह तैल नृपति की कन्या और विक्रमादित्य सान्तर को बड़ी बहिन थी। लेखों में इस महिला की बडी प्रशंसा की गई है। इसने ऊर्वीतिलकम् की भाँति ही 'शासन-देवते' का केवल एक मास मे निर्माण कराया। पंपादेवी बड़ी धर्मशीला थी। वह नित्य नियमित रूप से शास्त्रोक्त विधि से पूजा-अर्चा किया करती थी। उसकी सब से ऊँची कामना थी 'अष्टविधार्च्चने', 'महाभिषेकम्', और 'चतुर्भक्ति' को सम्पन्न करना। ऊर्वितिलकम् के उत्तरी पट्टशाला के निर्माण मे इस महिला का भी हाथ था।

जैन सेनापति गंगराज की पत्नी लक्कले या लक्ष्मीमती का नाम भी अनेकान्तमत के प्रचार के सम्बन्ध मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस महिला ने १११८ ई० मे श्रवणबेल्गोल मे एक जिनालय का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त भी उसने कई जिनमंदिरो का निर्माण कराया था, जिनके संचालन के लिये गंगराज ने उदारतापूर्वक भूमि-दान दिया था। लक्ष्मीमती ने अपने पति की ही तरह परोपकार मे अपना जीवन व्यतीत किया। उसने असहायों और दुःखियो को अन्न वस्त्र तथा औषध से बराबर सहायता की। इसी कारण प्रशस्तियों मे उसे 'उदारता की खान' कहा गया है। एक लेख मे कहा गया है—"क्या ससार की कोई दूसरी महिला निपुणता, सौन्दर्य्य और ईश्वर-भक्ति मे गंगराज की पत्नी, लक्ष्मीयाम्बिके, की बराबरी कर सकती है?" यह लेख ११२१ ई० का है। इसी साल लक्ष्मीमती ने समाधि लेकर शरीर-त्याग किया।

गंगराज के बड़े भाई की स्त्री का नाम जक्कणब्बे था। यह महिला शुभा-चन्द्रदेव की शिष्या थी। सेनापति बोप्प इसी महिलारत्न का पुत्र था। जक्कणब्बे ने 'मोक्षतिलक' नामक व्रत करके एक प्रस्तरखंड मे एक जिनदेवता की प्रतिमा खुदवाई और उसे श्रवणबेलगोल मे प्रतिष्ठित किया। यह प्रतिष्ठाकार्य ११२० ई० मे सम्पन्न हुआ। उसी साल मे उसने श्रवणबेलगोल मे एक सरोवर भी खुदवाया।

पुणिसमय्य एक विख्यात जैन-सेनापति हो गया है। उसकी स्त्री, जक्कियब्बे, भी अपने धर्माचरण धर्मकार्यों के लिए प्रसिद्ध है। १११७ के एक लेख से मालूम होता है कि

कृष्णराजपटे तालुका के होसकोटे नामक स्थान में उसने एक बसदि का निर्माण कराया था। यह बसदि केवल पत्थर का बना हुआ था। होसकोटे के एक शिलालेख में लिखा है कि इस महिला की तुलना केवल सीता और रुक्मिणी से की जा सकती है।

सुग्गियब्बरसि, कनकियब्बरसि और शान्तियक्क नामक तीन महिलाओं के नाम जैन इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखते हैं। सुग्गियब्बरसि राजा मारसिंह की छोटी बहिन थी। इसके गुरु का नाम माघनंदी था। यह जैन मुनियों की बड़ी भक्त थी और उन्हें सदा भोजन दान दिया करती थी। इसने उद्धरे के पञ्चबसदि को अलंकृत किया और उसी के उद्देश्य से 'सरबीली' नामक स्थान में भूमि दान किया।

कनकियब्बरसि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने सुग्गियब्बरसि के भूमि दान में और भी वृद्धि की। उसने उन-उन स्थानों में जिन मंदिरों का निर्माण कराया, जहाँ उनकी आवश्यकता थी। जहाँ जैन मुनियों को भोजन का कष्ट होता था वहाँ उसने उनके निर्वाह के लिए भूमि-दान दिया

जिस लेख में उक्त दोनों महिलाओं का उल्लेख मिलता है, उसी में शान्तियक्क का भी जिक्र है। इस महिला के पिता के पिता का नाम कोटिशेट्टि और माता का बोप्पब्बे था। इसके पति का नाम भी कोटिशेट्टि ही था। इसने उद्धरे में एक बसदि का निर्माण कराया। इस महिला को लेख में 'जिनधर्म का आधार' कहा गया है।

होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन नरेश की रानी शान्तलदेवी जैन महिलाओं के इतिहास में एक विशेष स्थान रखती है। श्रवणबेल्गोल तथा अन्य स्थानों में प्राप्त लेखों से विदित होता है कि सौन्दर्य, धर्मशीलता, दया और भक्ति आदि गुणों में इस महिला ने प्रशंसनीय ख्याति लाभ की थी। इसका पिता कट्टर शैव और माता जैन थी। इसकी माता का नाम माचिकब्बे था। यह नृत्य, गान और वाद्य में अत्यन्त निपुण थी और अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात थी। इसके गुरु का नाम प्रभाचन्द्रसिद्धान्तदेव था।

रानी शान्तलदेवी का धर्मकार्य चिरस्थायी है। ११२३ ई० में इसने श्रवणबेल्गोल में जिनेन्द्र की एक प्रतिमा निर्मित कराई जो 'शान्तिजिनेन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी साल इसने श्रवणबेल्गोल में ही 'सवतिगन्धवारण' बसदि का निर्माण कराया। इस बसदि के सम्यक् संचालन के लिए शान्तलदेवी ने राजा विष्णुवर्द्धन की अनुमति से 'मोट्टेनविले' नामक ग्राम दान कर दिया। इस ग्राम के अतिरिक्त भी इसने अन्य कई ग्राम इस बसदि के संचालन के लिए अपने गुरु को अर्पित किये। शान्तलदेवी ने सल्लेखना क्रिया द्वारा ११३१ ई० में शिवगंगे नामक स्थान में शरीर विसर्जन किया।

राजा विष्णुवर्द्धन नरेश की पुत्री, हरियब्बरसि, ने भी अनेक धर्मकार्य किये, उसने ११२९ ई०

मे कोडंगिनाद के हंतियूर नामक स्थान में एक विशाल चैत्यालय का निर्माण कराया। इसके गोपुरों की ऊँची चोटियों मे कीमती पत्थर जड़े थे। इस चैत्यालय के लिए उसने बहुत-सी भूमि का भी दान किया।

जक्कवे या जक्कले चाविमय्य की स्त्री थी। उसने हेरगु नामक पवित्रस्थान में एक वसदि निर्मित कराया और उसे चेन्न पार्श्वनाथ के नामपर प्रतिष्ठापित किया। सेनापति ईश्वर की स्त्री, मचियक्क, ने मायदवोलल नामक स्थान में एक जिन-मन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस मंदिर के साथ उसने एक सरोवर का भी निर्माण कराया, जो 'पद्मावतीकेरे' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने ११६० ई० में इस मन्दिर के लिए भूमि-दान भी दिया। सामन्तगोव की पत्नी, सिरियादेवी, ने अपने गुरु चन्द्रायणदेव की आज्ञानुसार रंगनाथ मंदिर की विष्णुमूर्त्ति की चरण-शिला से एक जिन-मूर्त्ति बनवाई और उसे हुलियूर के वसदि में प्रतिष्ठित किया। अचलदेवी का नाम भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं है। यह महिला सेनापति चन्द्रमौलि की पत्नी थी। चन्द्रमौलि शैवमत का माननेवाला था, किन्तु अचलदेवी कट्टर जैन थी। उसने श्रवणबेलगोल मे पार्श्वनाथ का एक सुन्दर जिनालय बनवाया। उसके पति की प्रार्थना पर राजा बल्लाल ने एक ग्राम का दान उक्त मंदिर को दिया था। एचण की पत्नी सोमलदेवी ने १२०७ मे बेलगवट्टिनाड नामक स्थान मे एक वसदि का निर्माण कराया, और इसके लिए भूमि का दान दिया, जिसका विशेष विवरण लेख मे आवद्ध है।

वास्तव मे दक्षिण भारत मे जैनमहिलाओं ने अनेकान्तमत के प्रचार तथा उसकी उन्नति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसमे सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत मे आज जो कुछ भी जैनमत-सम्बन्धी कार्य दिखाई दे रहा है, उसमे महिलाओं का भारी हाथ है और इतिहास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

[बी० ए० सालेतोरे-कृत 'मेडिएवेल जैनिज्म' नामक पुस्तक के आधार पर स्वतन्त्र रूप से लिखित]

जैन आगम साहित्य में यक्ष

[ले०—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०]

ऋग्वेद तथा जैमिनीय ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में यक्ष शब्द का प्रयोग केवल आश्चर्य जनक अथवा भयानक अर्थ में हुआ है। हरिवंश पुराण में यक्षों को धनपति कुबेर के उद्यान और कोष का रक्षक कहा गया है। बौद्धों के महावंश में सिलोन के आदिम निवासियों को यक्ष बताया गया है।[1] कथासरित्सागर में बृहत्काय मांसभक्षी यक्षों का उल्लेख आता है। बौद्ध जातकों में तो यक्षों का वर्णन अनेक जगह आता है। वहाँ बताया गया है कि यक्षों की कभी पलक नहीं लगती, उनकी आँखें लाल होती हैं उनकी परछाईं नहीं पडती, शरीर उनका ताडवृक्ष के समान लम्बा होता है, दाँत शूकर जैसे होते हैं, चोंच श्येन पक्षी के समान होती है। ये लोग मनुष्य और पशुओं का मांस भक्षण करते हैं तथा जगलों और एकांत स्थानों में वास करते हैं।[2]

(१) यक्षमह—

जैन साहित्य में यक्षों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। स्वयं जिन भगवान के यक्ष होते हैं। निशीथचूर्णि में इन्द्रमह स्कन्दमह, यक्षमह और भूतमह इन चार उत्सवों को महान् उत्सव (महामह) बताया गया है। इन उत्सवों पर साधु को स्वाध्याय करने का निषेध है। ये उत्सव कई दिन तक मनाये जाते हैं, और ये आषाढ, आसौज, कार्तिक और चैत्रमास की पूर्णिमा के दिन समाप्त होते हैं।[3] इन्द्रमह के अवसर पर इन्द्रकेतु स्थापित कर उसका पूजन किया जाता है। जैनशास्त्रों में कांपिल्यपुर के दुर्मुख राजा द्वारा बड़े ठाट के साथ इन्द्रमह उत्सव मनाये जाने का उल्लेख आता है। राजा ने नागरिकों को इन्द्रकेतु स्थापित करने का आदेश किया। लोगों ने श्वेतध्वजपट, मणिरत्नमाला आदि द्वारा इन्द्रकेतु को सज्जित किया। नर्तकियों के नाच हुए, सुकवियों के काव्यपाठ हुए, इन्द्रजालिया ने इन्द्रजाल का प्रदर्शन किया कुकुमकर्पूरजल आदि का छिड़काव हुआ महादान दिये गये तथा मृदंग आदि वादित्र बजाये गये। इस प्रकार सात दिन आमोद प्रमोद में बीतने के बाद पूर्णिमा आ गई। तब दुर्मुख

१ Yakshas by A K Coomarswamy पृ० १३।

२ Pre Buddhis India. By R Mehta पृ० २२८।

३ आसाढपाडिवणमाए इह लाडेसु सावणपाडिवणमाए भवति इन्दमहो आसायपोडिवणमाए कत्तियपुडिवणमाए चेव सुगिम्हगा जत्तुसवणाए एते महद्दिवमा गहिया। आदितो पुण जत्थ विसये जता दिवसाता महामहो पवत्तति तता दिवसाता आरब्भ जाव अंतदिवसो ताव (निशीथचूर्णि, उद्देश १९)।

राजा ने कुसुम वस्त्रादि द्वारा महावैभव से इन्द्रकेतु की पूजा की।[1] इन्द्रमहोत्सव के अवसर पर नगर की कुलबालिकायें बलि, पुष्प, धूप आदि द्वारा इन्द्र की पूजा करती थीं, और अपने योग्य वर के लिये प्रार्थना करती थीं। एक बार एक राजकुमार भी इन्द्रस्थान (इंदट्ठाण) को गया हुआ था। उसे मालूम हुआ कि कन्यायें इन्द्र से वरप्राप्ति के लिये प्रार्थना कर रही हैं। राजकुमार ने उन्हें कन्या-अन्त:पुर में रखवा दिया। बाद में उनका राजकुमार से विवाह हो गया।[2] यद्यपि यहाँ यक्षमह के विषय में अलग चर्चा नहीं की गई है, परन्तु इन्द्रमह आदि की तरह यक्षमह भी एक महान् उत्सव माना जाता था।

(२) यक्ष आराधन—

प्राचीन समय में भी लोग पुत्रोत्पत्ति के लिये यक्षाराधन करते थे। इस प्रकार की कथायें वैदिक, बौद्ध तथा जैनग्रन्थों में अनेक स्थलों पर आती हैं। धम्मपद की अट्ठकथा में श्रावस्ती नगरी के महासुवण्ण नामक एक गृहपति की कथा आती है। एकबार महासुवण्ण स्नान करके घर लौट रहा था। रास्ते में उसने एक महान् वृक्ष देखा। महासुवण्ण धन-धान्यादि से समृद्ध था, परन्तु उसके संतान न थी। महासुवण्ण ने वृक्ष के चारों ओर प्राकार बना दिया, उसे पताकाओं से सज्जित किया और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे संतान होगी तो मैं इसका महान सत्कार करूँगा।[3]

नायाधम्मकहा (अध्याय २) में भी इसी तरह की कथा आती है। धन्यसार्थवाह की पत्नी भद्रा के कोई सन्तान न होती थी। वह धन्य की आज्ञा लेकर स्नानादि करके राजगृह के बाहर जहाँ नाग, भूत, यक्ष, इन्द्र, स्कंद, रुद्र, शिव और वैश्रमण की प्रतिमायें थीं, वहाँ आई। भद्रा ने प्रतिमाओं का अभिषेक-पूजन आदि किया और प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे संतानोत्पत्ति होगी तो मैं इनका दानादि से सत्कार करूँगी और अक्षयनिधि से सवर्धन करूँगी। तत्पश्चात् चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन विपुल अशन, पान आदि द्वारा नाग आदि को उपयाचित करती हुई वह समय विताने लगी। भद्रा की इच्छा पूर्ण हुई। देवों द्वारा दत्त होने के कारण भद्रा ने अपने पुत्र का नाम देवदिन्न रक्खा।

संतानोत्पत्ति की अभिलाषा पूर्ण करने में हरिणगमेषी का नाम विशेषकर आता है। कल्पसूत्र में हरिणगमेषी द्वारा ही महावीर का गर्भपरिवर्तन किये जाने का उल्लेख है। कल्पसूत्र की हस्तलिखित प्रतियों में भी उसके चित्र आते हैं। मथुरा के जैन शिलालेखों में उसको 'भगवा नेमेसो' कहा गया है। वैदिक ग्रन्थों में भी नैगमेष यही काम करता है।

---

१ उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्र-टीका ८, पृ० १३६।

२ निशीथचूर्णि, उद्देश ११।

३ Yakshas by A K Coomarswamy, पृ० २२

यहाँ उसे हरिण शिरोधारक इन्द्र का सेनापति कहा गया है। महाभारत में नैगमेष को अग्नि का अजामुख रूप बताया है।[१] अन्तगडसूत्र में (अध्याय ६) हरिणगमेषी के सबंध में निम्न लिखित कथा आती है। भद्दिलपुर में नाग गृहपति की पत्नी सुलसा के कोई संतान न होती थी। सुलसा को ज्योतिषियों ने बचपन में ही कह दिया था कि यह लड़की वंध्या होगी। सुलसा ने हरिणगमेषी की बहुत भक्ति पूजा की। हरिणगमेषी आराधना से प्रसन्न हो गया। उसने सुलसा और कृष्ण की माता देवकी को एक साथ गर्भवती किया। दोनों के साथ ही पुत्रोत्पत्ति हुई। सुलसा ने मृत पुत्रों को जन्म दिया, और देवकी ने जीवित पुत्रों को। अब हरिणगमेषी ने सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास रख दिया और देवकी के पुत्रों को सुलसा के। तत्पश्चात् कृष्ण ने हरिणगमेषी की आराधना की और देवकी के गजसुकुमाल नाम का पुत्र हुआ।

पुत्रोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी लोग यक्ष आदि का आराधन करते थे, यह बात नायाधम्मकहा (अध्ययन ८, की निम्न कथा से प्रकट होती है। चंपा नगरी के अर्हन्नग आदि वैश्य धनोपार्जन के लिये समुद्र यात्रा के लिये चले। रास्ते में अनेक उपसर्ग हुए। पिशाच का भयानक उपद्रव हुआ। उस समय सब यात्री अत्यन्त भयभीत होकर इन्द्र, स्कंद, रुद्र, शिव, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्ष, आर्या और कोट्टकिरिया (दुर्गा) की आराधना करने लगे। बाद में सकुशल अपने स्थान पर पहुँच गये।

(३) यक्ष आयतन—

प्राकृत और पाली ग्रन्थों में चेइय अथवा चेतिय का उल्लेख अनेक जगह आता है। जैन आगम ग्रन्थों के टीकाकार अभयदेव ने चेइय का अर्थ व्यंतरायतन किया है। मालूम होता है पहले प्रत्येक नगर में इस प्रकार के स्थान होते थे। उदाहरण के लिये राजगृह नगर में गुणसिलय चम्पा में पूर्णभद्र और आमलकप्पा में अंबसाल वन नामक चैत्य थे। बौद्ध ग्रन्थों में आनन्द, गोतमक, चापाल, अजकलापक (इस चैत्य पर यक्ष को शान्त रखने के लिये बकरियों की बलि दी जाती थी) आदि चैत्यों का उल्लेख आता है। चैत्य के स्थान पर कभी यक्षाधिष्ठित उद्यानों का कथन भी आता है। जैसे वाणियगाम नगर में सुधर्म यक्षाधिष्ठित दुईपलास नाम का उद्यान था, मथुरा में सुदर्शन यक्षाधिष्ठित भण्डीर नामक उद्यान था, तथा वद्धमाणपुर में मणिभद्र यक्षाधिष्ठित विजयवद्धमाण नाम का उद्यान था। ये यक्षायतन कभी नगर के बाहर उद्यान में, कभी पर्वत पर, कभी तालाब के पास, कभी नगर के द्वार के पास और कभी नगर में ही होते थे। औपपातिक सूत्र (सूत्र २) में

१ Yakshas By A. K. Coomaraswamy पृ० १२।

पूर्णभद्र चैत्य का निम्नलिखित वर्णन आता है। पूर्णभद्र चैत्य प्राचीन, दिव्य और सुप्रसिद्ध था। यह वेदिका सहित, सच्छत्र, सध्वज, लोममय प्रमार्जन युक्त, गोवर आदि से लिपा हुआ, चदन कलश, तोरण और मालाओं सहित तथा अगुरु आदि धूप से सुगंधित रहता था। यह चैत्य नट, नर्त्तक, स्तोत्रपाठक, मल्ल, मौष्टिक (मुष्टि युद्ध करने वाले), विदूपक, कूदनेवाले, तैरनेवाले, ज्योतिषी, रास गानेवाले, चित्र दिखाकर भिक्षा मांगनेवाले, कामीजन—इन सव का आश्रयभूत था। यहाँ यज्ञ याग और हवन आदि हुआ करते थे। इन चैत्यों में ही जैन, बौद्ध आदि साधु आकर उतरते थे। वृहत्कल्पसूत्रभाष्य मे वताया है कि यदि साधु देवकुल आदि मे रात्रि को वास करे तो वहाँ स्कंद, मुकुंद आदि की प्रतिमाओं के दीपक द्वारा जल जाने का भय है। कभी यह भी संभव है कि चूहे दीपक की जलती हुई वत्ती निकाल कर ले जायँ और उससे प्रतिमायें जल जायँ। इससे साधुओं के अपवाद होने का भय है। अतएव साधु को चाहिये कि वहाँ वास करने के समय प्रतिमाओं को सरका दे। यदि यह संभव न हो तो दीपक को एक तरफ़ उठाकर रख दे। इससे जान पड़ता है कि स्कंद आदि की प्रतिमायें लकड़ी की होती थी तथा भक्त लोग रात्रि को उनके सामने दीपक जलाकर रखते थे। यह भी मालूम होता है कि काष्ठ की प्रतिमायें वहुत भारी न होती थी और वे एक जगह से दूसरी जगह सरकाइ भी जा सकती थी।

प्रज्ञापनासूत्र मे तेरह प्रकार के यक्षो के नाम निम्न प्रकार से आते है पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, मनुष्यभक्त, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। इन यक्षो मे पूर्णभद्र और मणिभद्र अधिक प्रसिद्ध मालूम होते है. बौद्ध ग्रन्थो मे भी इन यक्षो का उल्लेख आता है। सांख्यायनसूत्रों मे मणिभद्र का उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र मे आठ व्यंतरदेवों के आठ चैत्य वृक्ष वताते हुए यक्ष का चैत्यवृक्ष वट वताया गया है। कही चैत्य शब्द वट अथवा किसी अन्य साधारण वृक्ष के अर्थ मे भी आता है। पहले चिता के ऊपर कोई चिह्न आदि वना देते थे, और उसे पूजने लगते थे। मथुरा के जैनस्तूप और बौद्धस्तूप इसी तरह के चैत्य है। बौद्ध जातको मे वटवृक्ष की पूजा का उल्लेख मिलता है, जिसमे लोग बकरे, मुर्गे, सूअर आदि को मारकर उनकी वलि देते थे।

(४) यक्ष-ग्रह—

शास्त्रो मे यक्षग्रह के अनेक कथानक आते है। यक्षग्रह की विविध चिकित्साओ के भी उल्लेख मिलते है। जवूद्वीपप्रज्ञप्ति (पृष्ठ १२०) मे अन्य व्याधियो के साथ इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह, स्कदग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह और भूतग्रह का भी कथन आता है। विनयपिटक

१ वृहत्कल्पभाष्यसूल वृत्ति भाग ४, पृ० ९९७।

(महावग्ग ३) में भिक्षु को भूतग्रह होने पर आमिषोदक पान कराने को लिखा है। दीघ निकाय (आटानाटियसुत्त) में भूतों से रक्षा करने के लिये आटानाटिय रक्षा बताई है। यहाँ यह बताया गया है कि यदि कोई यक्ष यक्षिणी दुष्प्रयुक्त चित्त से भिक्षु को पीड़ा करे तो इन्द्र, सोम आदि महायक्षों को (इनमें मणिभद्र नामक यक्ष का भी नाम आता है) पुकारना चाहिये कि यह यक्ष पकड़ रहा है, शरीर में प्रवेश कर रहा है सता रहा है, डरा रहा है। जैनग्रन्थों में कहा है कि यदि कोई साधु यक्षाविष्ट हो जाय तो कायोत्सर्ग द्वारा देवता का आसन प्रकम्पित करके भूतचिकित्सा करनी चाहिये।

(५) यक्षविशेष और उनके कार्य—

पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि यक्षों के अतिरिक्त जैन ग्रन्थों में अन्य भी यक्षों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

(१) मोग्गरपाणि यक्ष—राजगृह में अर्जुनक नामक एक माली रहता था। नगर के बाहर माली का एक उद्यान था। इस उद्यान के पास मोग्गरपाणि का यक्षायतन था। यह यक्षायतन भी उपरोक्त पूर्णभद्र चैत्य के समान प्राचीन दिव्य आदि गुणों से युक्त था। अर्जुनक के पितामह आदि पूर्वकाल से इस यक्ष की पूजा करते आये थे। यक्ष के हाथ में एक बड़ी भारी लोहे की मुद्गर थी। अर्जुनक बाल्यकाल से ही यक्ष की भक्ति करता था। वह प्रतिदिन अपनी टोकरी लेकर उद्यान में जाता, पुष्प चयन करता, पुष्पों से यक्ष की अर्चना करता और राजमार्ग में जाकर अपनी आजीविका चलाता था। एक दिन माली अपनी स्त्री के साथ उद्यान में पुष्प चयन करने आया। यक्षायतन में छह बदमाशों की एक टोली आई हुई थी। ये लोग माली और उसकी स्त्री को आते देख यक्षायतन के किवाड़ों के पीछे छिप गये। ज्योंही माली और उसकी पत्नी ने अन्दर प्रवेश किया, इस टोली ने माली को पकड़ कर बाँध लिया और मालिन से विषयभोग किया। अर्जुनक को इसमें अत्यन्त खेद हुआ। उसे यक्ष पर अश्रद्धा हो गई। उसने कहा, यह यक्ष नहीं, यह तो लकड़ी का ठूंठ मात्र है। अब यक्ष ने माली के शरीर में प्रवेश किया। माली के बंधन टूट गये। यक्षाविष्ट माली ने अपनी मुद्गर से उस टोली को और मालिन को जान से मार दिया। राजा के पास जब यह समाचार पहुँचा तो उसने नगरभर में मुनादी करा दी कि कोई आदमी घर से बाहर न निकले (अंतगडसूत्र ६)।

(२) सुरप्रिययक्ष—साकेत नगरी की उत्तर-पूर्व दिशा में सुरप्रिय नाम का यक्षायतन था। वह प्रति वर्ष चित्रित किया जाता था, और लोग उसका महान् उत्सव मनाते थे। जो चित्रकार उसे चित्रित करता था, उसको यक्ष मार डालता था। यदि यक्ष को चित्रित न किया जाता तो वह जनमारी फैला देता था। साकेत नगरी के जब सब चित्रकार भागने लगे तो राजा को

बहुत चिन्ता हुई। उसने सब चित्रकारों को इकट्ठा किया। राजा ने सब चितेरों के नाम पत्र पर लिखवाकर एक घड़े मे डाल दिये। ये नाम प्रतिवर्ष घड़े में से निकाले जाते थे। जिस चित्रकार का नाम निकल आता उसे यक्ष को चित्रित करना पड़ता था। एकबार कोशांबी के किसी चित्रकार का लड़का अपने घर से भाग कर साकेत मे आया। वह एक चित्रकार के घर रहने लगा। संयोगवश अबकी बार इसी चित्रकार का नाम निकला। चित्रकार की वृद्धा माता को अत्यन्त दु:ख हुआ। इस चित्रकार के लड़के ने वृद्धा माता को आश्वासन दिया और वह स्वयं यक्ष को चित्रित करने के लिये तैयार हो गया। इस बालक ने उज्ज्वल वस्त्र आदि धारण कर नई कूँची आदि ले यक्ष को चित्रित किया, और पादवंदन कर अपने अपराधों की क्षमा मांगी। यक्ष ने संतुष्ट होकर वर मांगने को कहा। चित्रकार बालक ने कहा, "आप लोगों का नाश न करें।" यक्ष ने कहा, यह तो अब मैंने छोड़ ही दिया है, और कुछ मॉग। बालक ने कहा, मैं चाहता हूँ कि द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियों के एक भाग को देख कर भी मैं उनका पूर्णरूप से तदनुरूप चित्रण कर सकूँ। यक्ष ने वरदान दिया (आवश्यक हरिभद्रवृत्ति १)।

(३) भूततड़ाग तालाब—वृहत्कल्पसूत्रभाष्य मे कुत्रिकापण[१] नामक एक दुकान का उल्लेख मिलता है। इस दुकान पर तीनों लोकों की सामग्री उपलब्ध होती थी। प्राचीन समय मे उज्जयिनी और राजगृह मे कुत्रिकापण थी। राजा चण्डप्रद्योत के समय में उज्जयिनी मे नौ कुत्रिकापण थी। इस कुत्रिकापण मे भूत पिशाच भी बेचे जाते थे। एक बार भृगुकच्छ (भरोंच) का कोई वैश्य उज्जयिनी मे आया और कुत्रिकापण से उसने भूत मांगा। दुकान मालिक ने कहा यदि लाख रुपये दो तो भूत मिल सकता है। वैश्य तैयार हो गया। दुकानदार ने देवता से आज्ञा मॉगी। देवता ने कहा कि भूत बेच सकते हो परन्तु ग्राहक से कह दो कि यदि भूत को काम न दिया जायगा तो वह उसे मार डालेगा। वैश्य भूत लेकर चल दिया। वैश्य भूत को जो काम बताता उसे वह जल्दी ही कर डालता। अन्त मे वैश्य ने एक स्तम्भ गाड़ दिया और भूत को उस पर चढ़ते उतरते रहने को कहा। भूत ने हार मान ली और वह अपनी पराजय के उपलक्ष्य में भरोंच के उत्तरभाग में 'भूत तड़ाग' नामक तालाब बनाकर वहाँ से चला आया।

(४) ऋषि तड़ाग—इसी तरह की दूसरी कथा तोसलिदेश के वैश्य की आती है। वह भी उज्जयिनी जाकर ऋषिपाल नामक व्यंतरदेव को मोल लाया था। इस व्यंतर ने 'ऋषि-

---

१ कु इति पृथिव्याः संज्ञा, तस्याः त्रिकं कुत्रिक-स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणं तस्यापणः हट्टः। पृथिवीत्रये यत् किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षमं विद्यते तत् आपणे न नास्ति (वृहत्कल्पसूत्रभाष्यवृत्ति ३—४२१४)

तडाग' नाम का तालाब बनाया। इस तालाब पर लोग प्रतिवर्ष आठ दिन का उत्सव मनाते थे।

(५) भंडीरयक्ष—आवश्यकचूर्णि आदि में भंडीरयक्ष का नाम अनेक जगह आता है। मालूम होता है कभी मथुरा नगरी में भंडीरयक्ष का बड़ा माहात्म्य माना जाता था। लोग इकट्ठे होकर भंडीरयक्ष की यात्रा के लिये जाते थे, और उन्होंने भंडीर की स्मृति में भंडीरवट भंडीरवडिंसय चैत्य, भंडीरवडिंसय उद्यान, भंडीरवण आदि स्मारक बनवाये थे। 'मथुरा में जक्खगुहा (यक्षगुहा) होने का भी उल्लेख मिलता है। इस गुफा में आर्यरक्षित आचार्य ठहरे थे।[1]

(६) मनुष्य रूप में यक्ष—

मनुष्यरूप यक्षों की अनेक कथायें प्रचलित हैं। यहाँ इस तरह की एक-दो कथायें दी जाती हैं —

(१) एक ब्राह्मण की कन्या अत्यन्त रूपवती थी। ब्राह्मण अपनी कन्या पर आसक्त हो गया। उसने एक ब्राह्मणी को दूती बना कर उसके पास भेजा। ब्राह्मणी को एक उपाय सूझ पड़ा। उसने कन्या से कहा, देखो हमारे कुल में यह रिवाज है कि यक्ष कन्याओं का उपभोग करते हैं। अतएव जब यक्ष आये तो तुम उसका अपमान नहीं करना। तथा वह यक्ष अंधेरे में ही आता है, इसलिये तुम प्रकाश नहीं करना। लड़की चालाक थी। उसने दीपक जलाकर उसके ऊपर एक मिट्टी का बर्तन रख दिया। रात को यक्ष आया। जब उसने मिट्टी का बर्तन उठा कर देखा तो देखती क्या है कि उसका पिता है।

(उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ८९)।

(२) दूसरी कथा शीलवती की है। शीलवती का पति जब परदेश गया तो उसने अपने पति को एक पुष्पों की माला दी और कहा कि यदि यह माला मुरझा जायगी तो तुम समझ लेना कि मेरा शील खण्डित हो गया है। शीलवती का पति राजसैन्य के साथ चल दिया। कुछ दूर चल कर राजा की दृष्टि इस माला पर पड़ी। राजा ने कहा इस ऋतु में कहीं भी खिले हुए फूल नहीं मिलते, फिर इस माला के फूल कैसे खिले हुए हैं? शीलवती के पति ने सब बात बता दी और अपनी पत्नी के शील का बखान किया। कुछ राजकर्मचारियों को इस बात पर विश्वास न हुआ एक कर्मचारी शीलवती की परीक्षा करने आया। शीलवती ने कौशल से अपने घर में एक गहरा गड्ढा खुदवाकर उसे उसमें बन्द कर लिया। इस तरह उसने चार अन्य कर्मचारियों को उस गड्ढे में बन्द कर लिया। कुछ समय बाद शीलवती का

१ अथार्यरक्षिताचार्या मथुरानगरीं गताः।
तत्र यक्षगुहायां च व्यन्तरायतने स्थिताः॥ (अभिधानराजेन्द्रकोष)

प्रति राजसैन्य के साथ वापिस आ गया। एकबार शीलवती ने राजा को भोजन का निमंत्रण दिया। इधर वे चारों कर्मचारी गढ्ढे मे पड़े पड़े बहुत दुखी हो गये थे। उन्होंने शीलवती से क्षमा माँगी और अपने उद्धार के लिये प्रार्थना की। शीलवती ने कहा अच्छी बात है; परन्तु जब मैं किसी बात को कहूँ कि यह हो जाय तो तुम कहना कि हाँ हो जाय। राजा के आने के पहले ही शीलवती ने रसोई तैयार करके रख दी। जब राजा आया तो उसने उस गड्ढे की पूजा आदि करके कहा कि रसोई तैयार हो जाय। बस रसोई तैयार हो गई। राजा ने जब पूछा तो शीलवती ने कहा कि मेरे पास चार यक्ष हैं। उनसे जो कुछ कहो वे करते हैं। भोजन आदि के बाद राजा ने शीलवती से उन यक्षों को माँगा। शीलवती ने यक्षों को राजा को सौंप दिया। राजा ने उन्हे घर ले जा कर कहा कि रसोई तैयार हो जाय। परन्तु वहाँ कुछ भी नही हुआ। राजा को सब हाल मालूम हुआ और वह शीलवती की चतुराई पर बहुत प्रसन्न हुआ (कुमारपालप्रतिबोध)।

(३) रूपयक्ष—व्यवहारसूत्र के भाष्य मे रूपयक्ष का उल्लेख मिलता है। ये लोग दण्ड-नीति आदि शास्त्रों में निपुण होते हैं; किसी से लाँच नहीं लेते, अपने आत्मीय लोगों का अयथार्थ पक्ष ग्रहण नही करते, ऐसे लोग रूपयक्ष कहे जाते हैं।

(व्यवहारभाष्य भाग ३, पृ० १३२)।

भारतीय साहित्य मे यक्षो के संबंध मे अनेक कथायें आती हैं। इन सब के ऊपर से एक सुन्दर निबंध तैयार किया जा सकता है। वैदिक ग्रन्थों मे यक्षों को देव मान कर उनकी पूजा करने का विधान है। जब कि जैन शास्त्रो में उन्हे निम्न जाति का व्यंतरदेव बताया गया है। स्थानांगसूत्र मे आठ व्यंतरदेवो के आठ चैत्यवृक्षो के नाम निम्न प्रकार से आते हैं—पिशाच (कलंब), यक्ष (वट), भूत (तुलसी), राक्षस (कंडक), किन्नर (अशोक), किंपुरुष (चंपक), भुजंग (नागवृक्ष), गंधर्व (तेंदुय)। आजकल भी लोग वट, तुलसी आदि वृक्षों को यक्षाधिष्ठित मान कर पूजा करते हैं। इतिहास-विशारदो के अनुसार तो नागवंश आदि की तरह यक्षों का भी एक वंश था, और ये लोग यहाँ के मूल निवासी थे। संभवतः ये लोग भयानक रूपवाले रहे हों, और इसी पर से लोगों ने इन्हे यक्ष मानना आरम्भ कर दिया हो। जो कुछ भी हो, भारत मे जो प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, उनमे प्राचीनतम मूर्त्तियाँ यक्षों की ही उपलब्ध हुई हैं। इससे भी मालूम होता है कि यक्षों का कभी बहुत ऊँचा स्थान रहा होगा।*

---

* यक्षों के ऊपर श्रीयुत कुमार स्वामी ने अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है। इसमें यक्षों की सुन्दर प्लेट्स दी हुई हैं। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हों उन्हे यह पुस्तक पढनी चाहिये।

आठवीं शताब्दिसे पूर्ववर्ती गणित शास्त्र संबंधी संस्कृत व प्राकृत ग्रन्थोंकी खोज

] लेखक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल-एल बी०]

भारतवर्षके ज्ञानकोषकी वृद्धिमे जैनियोंने जो भाग लिया है उसमें गणितशास्त्रका स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण है। गणित संबंधी ग्रंथोंमें महावीराचार्यकृत गणितसारसंग्रह अपना एक विशेष स्थान रखता है। उसमें ब्रह्मगुप्त जैसे पूर्ववर्ती गणितज्ञों की अपेक्षा अनेक बातोंमें उन्नति पाई जाती है।[1] यह ग्रंथ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंगके समयमें लिखा गया था, जिसका राज्यकाल सन् ८१५ से प्रारंभ हुआ माना जाता है। इन्हीं नरेशके पूर्ववर्ती जगतुंगदेवके शासनकालमें वीरसेनाचार्यने षट्खण्डागम पर अपनी सुविख्यात टीका धवला लिखी थी। यद्यपि इस ग्रंथका मुख्य विषय धार्मिक सिद्धान्तसे संबंध रखता है, तथापि इन सिद्धान्तोंके सूक्ष्म व्याख्यानमें टीकाकारने अपने समयके गणितशास्त्रका खूब उपयोग किया है। षट्खण्डागममें गणितका विषय मुख्यतः प्रथम खंड जीवस्थानकी द्रव्यप्रमाण,[2] क्षेत्रानुगम और स्पर्शानुगम[3] इन तीन प्ररूपणाओंमें पाया जाता है। इस सम्बन्धके उल्लेखोंको हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) सूत्रों में आई हुई बातें।

(२) धवलाकार द्वारा किया गया विवेचन।

(३) अन्य ग्रन्थकारों के अवतरण।

सूत्रोंमें एकसे लगाकर सौ, हजार, लाख, करोड़, कोड़ाकोडी, कोड़ाकोड़ाकोड़ी व कोडाकोड़ाकोड़ाकोड़ी तककी संख्या, संख्यात असंख्यात, अनन्त व अनन्तानन्तके नाम, जोड़, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग व वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यास आदि गणितकी प्रक्रियाएँ, अंगुल, योजन, श्रेणी, विष्कम्भ, सूची, प्रतर व घन आदि क्षेत्र सम्बन्धी माप तथा समय, आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि काल संबंधी माप उल्लिखित पाये जाते हैं। ये सूत्र भूतबलि आचार्य द्वारा विक्रमकी प्रथम शताब्दिके लगभग लिखे गये सिद्ध होते हैं अतः उक्त उल्लेखों पर से आज से कोई दो हजार वर्ष पूर्वके गणित-संबंधी भारतीय ज्ञानका बहुत कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है।

---

१ See Ganit Sar-Sangraha of Mahaviracharya edited by Rangacharya Madras 1912 Preface P XI

२ देखो षट्खण्डागम व्हाल्यूम ३ (जैनसाहित्योद्धारक फंड सीरीज।

३ „ „ „ ४ (मुद्रणाधीन।

धवला टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यने अपनी रचनामें सूत्रोंके उक्त उल्लेखोंको खूब ही पल्लवित करके बतलाया है। उन्होंने संख्यात, असंख्यात व अनन्तके स्वरूपको बहुत कुछ स्पष्ट कर दिखाया है। द्रव्यप्रमाण कथनके आदिमें ही उन्होंने अनन्तके स्वरूप व उसके आन्तरिक भेदोंको समझाते हुए जो राशिके अर्धच्छेद व वर्गशलाकाओंका संबध बतलाया है वह गणित शास्त्रकी एक बहुमूल्य वस्तु है। उसमें आधुनिक Logarthim के समस्त सिद्धान्त अन्तर्निहित पाये जाते हैं।[१]

गणितकी भाग-प्रक्रियाके उन्होंने खंडित, भाजित, विरलित व अपहृत. ऐसे चार प्रकार बतलाये हैं व उनके प्रमाण, कारण व निरुक्तियाँ भी समझाई हैं।[२] भाज्य भाजक संबंधको क्षेत्र गणित द्वारा स्पष्ट करनेमें धवलाकारने अपने सूक्ष्म और तलस्पर्शी गणितज्ञानका अच्छा परिचय दिया है। जीव राशियों के प्रमाणोंको उन्होंने वर्गधारा, घनधारा व घनाघन धाराओं द्वारा खूब समझाया है, और इस सम्बन्धमें उनके उपरिम विकल्प और अधस्तन विकल्प, तथा, गृहीत, गृहीतगृहीत और गृहीतगुणकाररूप प्रक्रियाएँ बड़ी ही अनोखी और अद्भुत हैं। उपरिमविकल्पमें वे निश्चित राशिका वर्ग, घन व घनाघन प्रमाण लेकर व तदनुकूल भागहारको बढ़ाकर वही निश्चित भजनफल उत्पन्न कर दिखाते हैं। अधस्तन विकल्पमें वही निश्चित भजन-फल राशिके वर्गमूल ग्रहण कर व भागहारको घटा कर प्राप्त करते हैं। ऊपरका भाज्य और भजनफल लेकर निश्चित राशि उत्पन्न करनेको धवलाकारने गृहीत नामक विकल्प कहा है। गृहीतगृहीत नामक विकल्पमें प्रथम भजनफल पुन एक बड़ी राशिका भाजक बनाया जाता है और उसके लब्धका उसी भाजकमें भाग देनेसे निश्चित भजनफल प्राप्त होता है। गृहीत-गुणकारमें निश्चित भजनफलका विवक्षित राशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आया उसका उसी भाजक राशिसे गुणा करके उत्पन्न हुए भजनफलका विवक्षित राशिके वर्गमें भाग देकर निश्चित भजनफल प्राप्त किया गया है। ये गणितशास्त्र संबंधी वर्गात्मक राशियोंकी अद्भुत कसरतें गणितज्ञोंके ध्यान देने योग्य है।[३] प्रमाणराशि, फलराशि और इच्छाराशि, इनकी त्रैराशिक क्रियाका उपयोग भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है।[४] गणना राशिका धवलाकार द्वारा किया गया एक विभाग उल्लेखनीय है। समभाज्य राशिको उन्होंने 'युग्म' तथा विषम राशिको 'ओज नाम दिये हैं। इनमें भी प्रत्येकके दो दो प्रविभाग हैं। जिसमें चारका भाग पूरा चला जाय, वह 'कृतयुग्म' और जिसमें दो शेष बचे वह राशि 'बादरयुग्म' कही गई है। उसी प्रकार जिसमें चारका भाग देने पर तीन शेष रहें वह 'तेजोज' और

१ देखो द्रव्यप्रमाण पृ० १८—२६।
२ ,, ,, पृ० ४१।
३ द्रव्यप्रमाण पृ० ५२—८७।
४ द्रव्यप्रमाण पृ० ६५, १००।

जिसमें एक शेष रहे वह 'कलिओज' कहलाती है। मनुष्यराशिको धवलाकारने तेजोज राशि कहा है।[1]

क्षेत्र प्ररूपणामें लोकका स्वरूप समझाते समय धवलाकारके सम्मुख दो मान्यताएँ उपस्थित थी। एक मान्यतानुसार तो लोक सब ओरसे तलभागमें सात राजु, मध्यमें एक राजु और शिखर पर एक राजु विस्तृत है अर्थात क्रमसे हानि वृद्धिको लिये हुए लम्बा और गोलाकार है। किन्तु दूसरी मान्यतानुसार केवल दो दिशाओंमें उपर्युक्त हानि-वृद्धिको लिये हुए है और शेष दो दिशाओंमें सर्वत्र सात राजु मोटा है और इस प्रकार ऊँचा चतुरस्राकार है। धवलाकारने इन दोनो मान्यताओंके बीच सत्यासत्यका निर्णय करनेके लिये परम्परागत सैद्धांतिक मान्यताकी कसौटी लगाई है और यह देखनेका प्रयत्न किया है कि किस आकारमें कितना घनफल प्राप्त होता है। इसके लिये उन्होंने प्रथम मान्यतामें लोकका यह निश्चित घनफल निकाला है, जो उस समयकी घनफलोत्पादक विधिका अच्छा परिचायक है। उन्होंने पहले त्रसनाडी जो सर्वत्र एक राजु व्यासवाली और चौदह राजु ऊँची है उसे अलग किया और उसका अधोलोक प्रमाण सात राजुका घनफल ५ [illegible] निकाला। फिर शेष अधोलोकको बीचमेंसे फाड़कर फैलाया और उसे सूपाकार क्षेत्र बनाया। फिर उसमेंसे बीचका चौकोर खंड काटा जिसका प्रमाण ३४ [illegible] निकला। फिर दोनों ओरके त्रिकोण क्षेत्रोंमेंसे चौकोरखंड काटे और इन खंडोंको विपरीत क्रमसे एक दूसरे पर रखकर उन्हें समान मुटाईवाला बनाया और इस प्रकार इनकी लम्बाई चौड़ाई और मुटाई से उनका घनफल निकाला। शेष जो त्रिकोण क्षेत्र बचते गये उन्हें फिर चौकोर काटा और फिर उपर्युक्त क्रमसे समचतुरस्र बनाया। इस प्रकार तबतक करते गये जबतक वह समस्त सूपाकार क्षेत्र समाप्त न हो गया। इस उत्पन्न हुए घनफलोंको जोड़नेका उन्होंने एक सुन्दर छोटासा गुरु दे दिया है। उपर्युक्त क्षेत्रफल चतुर्गुणित क्रमसे अवस्थित पाये जाते हैं, अतः अंतिम क्षेत्रफलमें चारका गुणा करके गुणनफलमेंसे एक घटा दो और फिर तीनका भाग दे दो। इस प्रकार सूपाकार क्षेत्रके दोनों बाजुओंके त्रिकोणोंका घनफल ६५ [illegible] होगा। इसमें उपर्युक्त बीचके चौकोर क्षेत्रका प्रमाण ३४ [illegible] तथा त्रसनाड़ीका घनफल ५ [illegible] जोड़ देने पर घनफल १०६ [illegible] घनराजु हुआ। इसी प्रकार काट काटकर और फैला फैलाकर ऊर्ध्वलोकका भी घनफल धवलाकारने निकाला है जो समस्त मिलाकर ५७ [illegible] हुआ। इसको अधोलोकके प्रमाणमें जोड़ने पर समस्त लोकका घनफल १६० [illegible] घनराजु हुआ। इसलिये यह आकार धवलाकारने असिद्ध ठहराया। दूसरे प्रकारसे मान हुए लोकका घनफल निकालने पर वह सात राजुके घन प्रमाण अर्थात् ७×७×७=३४३ घनराजु सिद्ध हो गया। अतएव उसे ही ठीक माना है।

१ ध्र० प्र० पृ० २४९।

उपर्युक्त गोलाकार क्षेत्रमें जो एक राजु व्यासवाली त्रसनालीका क्षेत्रफल धवलाकारने बतलाया है उसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि परिधिका प्रमाण $\frac{३७१}{११३}$ राजु लिया गया है। तथा सात राजु व्यासवाले तलभागकी परिधिका प्रमाण $२२\frac{१५}{११३}$ बतलाया गया है। यह प्रमाण उपर्युक्त एक राजुव्यासवाली परिधिको सातसे गुणा करने पर नहीं प्राप्त होता। और न इन दोनोंमेंसे कोई भी परिधि प्रमाण अन्यत्र माने गये 'व्यासकी तिगुनी परिधि' या 'व्यासके वर्गके दशगुणेका वर्गमूल'के नियमोंसे ही आता है। इससे स्पष्ट है कि धवलाकार यहां परिधिको निकालनेके किसी और ही नियम पर दृष्टि रखते हैं। आगे चलकर इन्होंने स्वयं वह नियम भी दे दिया है जो इस प्रकार है—व्यासको सोलहसे गुणा करो, उसमें सोलह जोड़ दो, तथा एक सौ तेरहसे भाग देकर व्यासका तिगुणा और जोड़ दो तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म परिधिका प्रमाण निकल आता है। यह नियम इस प्रकार है—

$$\text{परिधि} = \frac{\text{व्यास} \times १६ + १६}{११३} + ३\ \text{व्यास}$$

इस नियमके अनुसार ही १ राजुव्यासवाली त्रसनाड़ीकी परिधि हुई—

$$\frac{१ \times १६ + १६}{११३} + ३ = \frac{३७१}{११३}$$

तथा, ७ राजुव्यासवाले अधोलोकके तलभागकी परिधि हुई—

$$\frac{७ \times १६ + १६}{११३} + २१ = २२\frac{१५}{११३}$$

इसको यद्यपि सूक्ष्मसे सूक्ष्म परिधिमान-प्ररूपक कहा है, तथापि आधुनिक गणितानुसार यदि इसमें १६ जोड़नेकी व्यवस्था न की गई होती तो $\frac{३५५}{११३}$ परिधिमानका नियम सचमुच बहुत सूक्ष्म और व्यापक होता, जो छह दशमलव स्थानों तक शुद्ध माना जाता है। सोलह जोड़नेकी व्यवस्था द्वारा एक बहुत ही शुद्ध प्रमाण कुछ अशुद्ध हो गया, जिसका कारण समझमें नहीं आता।

क्षेत्रप्ररूपणामें संख, गोम्ही, भ्रमर, मत्स्य व मनुष्यके शरीरावगाहनके घनफल निकालनेके अलग अलग नियम दिये गये हैं जो गणितज्ञोंके लिये दिलचस्प होंगे। उसी प्रकार नारकी जीवोंकी ऊँचाई निकालनेकी खास व्यवस्था बतलाई गई है।

स्पर्शनप्ररूपणामें द्वीपसमुद्रोंकी संख्या, उनका विस्तार व क्षेत्रफल एवं तद्गत सूर्यचन्द्रोंकी संख्या, निकालने तथा केवल समुद्रोंका संकलन करने व क्षेत्रफल निकालनेमें गणितकी अनेकानेक प्रक्रियाओं और नियमोंका उपयोग किया गया है, जो असाधारण गणितज्ञानका परिचायक है। धवलाकारके सम्मुख कोई गणितशास्त्रके बड़े व्यापक और प्रामाणिक ग्रंथ थे, यह भी अनुमान किया जा सकता है।

अब कुछ थोडा-सा परिचय गणित सबंधी अवतरणोंका कराते हैं जो धवला टीकामें पाये जाते हैं। इन अवतरणोंके हम दो विभाग कर सकते हैं। एक तो वे अवतरण जिनके साथ मूलग्रन्थका नाम पाया जाता है। और दूसरे ऐसे जिनके मूलग्रन्थ और कर्त्ताका कोइ उल्लेख नहीं किया गया। जिन ग्रन्थोंका उल्लेख किया गया है उनमें प्रथम 'तिलोयपण्णत्ति' का नाम उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थमेंसे कहीं गणित सबधी गाथा या गाथाखण्ड अथवा गद्य या कहा सारांश लेकर 'इति तिलोयपण्णत्ति सुत्तादो' ऐसा ग्रन्थोल्लेख कर दिया गया है। सौभाग्यसे यह ग्रन्थ उपलब्ध भी है। इसके कर्ता यतिवृषभाचार्य कहे गये हैं जिनके बनाये हुए गुणधर आचार्य कृत 'कसायपाहुड' सूत्रोंके ऊपर चूर्णि सूत्र जयधवलामें पाये जाते हैं। यह ग्रन्थ लगभग आठ हजार श्लोक प्रमाण है। अधिकतर प्राकृत गाथाओंमें, किन्तु कहीं कहीं प्राकृत गद्यमय है। चूंकि इसमें महावीर स्वामीसे १००० वर्ष पश्चात् तकके ऐतिहासिक उल्लेख पाये जाते हैं अत इसका निर्माणकाल पाँचवीं शताब्दिमें व उसके पश्चात् अनुमान किया जा सकता है। इसमें लोक ऊर्ध्व अधो मध्यलोक तथा मध्यलोकगत द्वीप, समुद्र, भरतक्षेत्र व आर्यखण्ड आदि का प्रमाण व वर्णन खूब विस्तारसे किया गया है। और तद्विषयक गणित भी खूब पाया जाता है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक मूलमात्र भास्कर के पिछले अकोंमें निकल चुका है, और अब यह ग्रन्थ डा० ए० एन्० उपाध्ये और हमारे द्वारा सुसशोधित सम्पादित होकर अनुवाद सहित जीवराज जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेके लिये मुद्रित हो रहा है। इसके प्रकाशनसे प्राचीन गणित पर बहुत कुछ प्रकाश पडेगा।

गणित सबधी उल्लेखोंका आधारभूत दूसरा ग्रन्थ 'परियम्म सुत्त' (परिकर्म सूत्र) है, जिसका उल्लेख उक्त भागोंमें कम से कम बीस बार आया होगा। इसके सब अवतरण प्राकृत गद्यात्मक ही हैं। और ये असख्यात् अनन्त आदिके स्वरूप, जीवराशिप्रमाण, द्वीपसागर गणना, स्वर्ग व नरकादिमें जीवराशिका प्रमाण रज्जु, जगश्रेणि व लोक आदिका प्रमाण, इत्यादि बातोंसे सबध रखते हैं। इससे जाना जाता है कि यह जैन करणानुयोग विषयक कोइ प्राकृत गद्यमय रचा हुआ प्राचीन ग्रन्थ था, जो अपने विषयमें खूब प्रामाणिक माना जाता था। दुर्भाग्यतः अभी तक इस नामके कोई स्वतंत्र ग्रन्थका पता नहीं चला है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतारमें कहा गया है कि षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर कुदकुदाचार्यने सर्वप्रथम एक टीका लिखी थी जिसका नाम परिकर्म था। मेरा पहले ख्याल हुआ था कि धवला टीकामें उल्लिखित परिकर्म वही कुदकुदाचार्य कृत टीका होना चाहिए। किन्तु उल्लेखों पर सूक्ष्म विचार करनेसे यह बात अब मुझे शकास्पद जँचने लगी है। यद्यपि एक जगह वीरसेनने यह भी कहा है कि परिकर्मकी प्रवृत्ति इसी सूत्रग्रन्थसे हुई है, तथापि न तो कहीं अन्यत्र इसे टीका ग्रन्थ कहा, और न कुदकुदाचार्यका नाम उसके साथ सम्बद्ध किया गया।

गणितके सिवाय और किसी विषयके संबंधमें भी इसका नाम नहीं लिया गया। गणित-शास्त्रमे 'परिकर्म' का अर्थ गणित-प्रक्रिया भी होता है। महावीराचार्यके गणित-सार-संग्रहमें संज्ञा प्रकरणके पश्चात् दूसरे प्रकरणका नाम 'परिकर्मव्यवहार' पाया जाता है। अनुमान होता है कि परिकर्म नामका गणित संबंधी कोई स्वतंत्र प्राचीन प्राकृत गद्यात्मक ग्रन्थ था जो षट्खण्डागमसे भी संबंध रखता था, या इसके गणित भागके विशदीकरणरूप था। इसको धवलाकारने एक जगह सर्वाचार्यसम्मत कहा है। इस ग्रन्थकी खोज होना चाहिए।

अब हम धवलाटीकाके गणित संबंधी उन उल्लेखों पर आते हैं जिनके साथ किसी ग्रन्थ आदिका नाम नहीं पाया जाता। ऐसे उल्लेख प्राय. गणितशास्त्रके किसी नियमको उद्धृत करनेवाले हैं. और कहीं संस्कृतमे और कहीं प्राकृतमें पाये जाते हैं। संस्कृतनिबद्ध ऐसे उल्लेखोंमें सबसे प्रथम द्रव्यप्रमाणानुगममें हमें एक 'आर्या' मिलती है. जिसमें किसी संख्याके दो हारों व उनके द्वारा लब्धोंके बीच हानिवृद्धिका एक नियम स्थापित किया है 'हारान्तर हृतहारात्'[1] इत्यादि। इस प्रकारकी एक दूसरी आर्या एक बार क्षेत्रप्ररूपणामें और एकबार स्पर्शनप्ररूपणामें उद्धृत की गई है, और उसमें व्यासमे परिधि निकालनेका वही नियम स्थापित किया गया है जिसे हम ऊपर दे आये हैं—'व्यासं षोडशगुणितं'[2] इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं आर्याका एक खंडमात्र ही उद्धृत किया गया है, जैसे—

'रूपेषु गुणमर्येषु वर्गणम्' (व्हाल्यूम ४, पृष्ठ २००)।

'रूपोनमादिसंगुणमेकोनगुणोन्मथितमिच्छा' (॥ पृ० १९९,२०१)

'व्यासार्धकृतित्रिकं समस्तफलितम्' (॥ पृ० १६९)

ये सब आर्याएं व आर्याखण्ड, या सूत्र, किसी एक ही ग्रन्थसे लिये गये हैं, या पृथक् पृथक् ग्रन्थोंसे, इस निर्णयके लिये हमारे पास इस समय समुचित सामग्री नहीं है। तथापि अनुमानतः वे किसी एक ही संस्कृत पद्यात्मक गणित ग्रन्थसे लिये गये होंगे। महावीरकृत गणितसारसंग्रह आदि ग्रन्थोंमे वे हमे उपलब्ध नहीं होते। इनका आधारभूत ग्रन्थ भी अभी तक लुप्त ही है।

सबसे महत्वपूर्ण गणितशास्त्र संबधी नियमोंके उल्लेख हमे धवलाटीकामे प्राकृत गाथा निबद्ध मिलते हैं। ये गाथाएं 'एत्थ उवउज्जंतीओ गाहाओ'—इस विषय पर उपयोगी गाथाएं 'एत्थ करणगाहा वुत्तंच' आदि उत्थानिका वाक्य देकर उद्धृत की हुई पाई जाती हैं। यो तो गणितसबंधी प्राकृत गाथाएं उक्त टीकामे सैकड़ों है, किन्तु उनमेंकी अधिकांश

---

१ द्रव्यप्रमाण, उद्धृत पद्य नं० २८ पृ० ४७।

२ क्षेत्रप्ररूपणा, उद्धृत पद्य नं० १४ पृ० ४२; स्पर्शनप्ररूपणा उद्धृत पद्य नं० ६ पृ० २२१।

जैनकरणानुयोगसे संबंध रखनेवाली हैं। उनमेंसे मैं उन शुद्ध गणितशास्त्रात्मक गाथाओंकी ओर यहाँ पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना मैं आवश्यक समझता हूँ। इस प्रकारकी आठ गाथाएँ तो द्रव्यप्रमाणानुगमके पृ० ४६ से ४९ पर पाई जाती हैं, जिनमें भाज्य, भाजक और लब्धके हानिवृद्धि रूप नियम बड़ी सूक्ष्मताके साथ दिये गये हैं। ऐसी ही एक गाथा पृ० ३४२ पर आई है 'रासिविसेसेणवहिद' आदि। एक और गाथा स्पर्शनप्ररूपणामें नं० ८ (पृ० २०९) पर पाई जाती है जिसमें व्याससे परिधि व क्षेत्रफल निकालनेका नियम दिया गया है, 'विक्खंभवग्ग-दहगुणकरणी' आदि। यह गाथा त्रिलोकसारमें भी संगृहीत है। ऐसे ही नियमसे संबंध रखनेवाले गाथा खण्ड भी जगह जगह दृष्टिगोचर होते हैं। अनुमान होता है कि धवलाकारके सम्मुख कोई प्राकृत गाथाओंमें रचा हुआ गणितका ग्रंथ भी था जिसका उन्होंने खूब उपयोग किया। यह ग्रंथ बड़ा महत्वपूर्ण और उपयोगी जान पड़ता है। क्या आश्चर्य जो यह ग्रंथ अभी भी किसी शास्त्र भंडारमें पड़ा हुआ किसी सौभाग्यशाली खोजककी बाट जोह रहा हो। हमें इस ओर दृष्टि रखना चाहिए।



तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम० ए०]

अनेकांत (४—६, ७, ८) में "सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तर लेख की निस्सारता" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक ने पंडिताऊ पद-प्रयोगों द्वारा छींटे उड़ाये हैं और अपनी सम्मति को अमोघ अस्त्र समझकर उसे मेरे सब लेखों पर पानी फेरनेवाली बताते हुए मेरी कलम तोड़ने आदि के उल्लेखपूर्वक तत्त्वार्थभाष्य की बातों को छूमंतर की तरह उड़ा देने का दावा (शायद किसी जादू के प्रयोग से) किया है। इस सब के उत्तर में यही हमें कहना है कि इस प्रकार के आत्मश्लाघात्मक उद्गार लेखक तथा उनके मित्रों के 'स्वान्त: सुखाय' ही हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त उनका कुछ मूल्य नहीं। निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होगा कि इस लेख में कितनी बेतुकी बातें लिखी गई हैं। इस पर भी बिना किसी सम्पादकीय नोट के यह लेखमाला किस शान के साथ अनेकांत में प्रकाशित हो रही है !

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

१ आक्षेप—"गुणा इति संज्ञा तंत्रांतराणां आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्विती (त) यमेव तत्त्वं अतश्च द्विती (त) यमेव तदुद्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोऽपि कश्चित्स्यात् तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यम्' आदि पाठ में "तंत्रांतराणां" और 'आर्हतानां तु' ये वचन सूचित करते हैं कि यहां 'गुण' के विषय में अन्यवादी आर्हत्मत पर आक्षेप कर रहे हैं. श्वेताम्बर जैन नहीं। जैनों में तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ये दो ही नय माने गये हैं, गुणार्थिक नय माना ही नहीं, अतएव जैनों के यहाँ इस शंका का अवकाश किसी काल में संभवित नहीं, आदि।

१ उत्तर—लेखांक (३) में सन्मतितर्कगत गुणार्थिकनय की मान्यता का मैंने स्थल-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया था। यदि उस स्थल को देखने का कष्ट किया जाता तो इस आक्षेप के लिये अवकाश न रहता। सन्मतितर्क (३-८) की टीका में अभयदेव ने कुछ जैन आचार्यों द्वारा मान्य गुणार्थिकनय की मान्यता को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—रूपरसगन्धस्पर्शा• असमानग्रहणलक्षणा यस्मात् ततो द्रव्यमाश्रिता गुणा इति केचन वशेषिकाद्या, स्वयूथ्या वा सिद्धांतानभिज्ञा अभ्युपगच्छन्ति (सन्मतितर्क ८ टीका, पृ० ६३३)। अर्थात् वैशेषिक आदि तथा कुछ स्वयूथ्य विद्वान् (अर्थात् जैनदर्शनानुयायी विद्वान्) द्रव्य और गुण को भिन्न मानते है। क्योंकि द्रव्य गुणाश्रय और क्रियाश्रय है, जब कि गुण द्रव्याश्रयी है,

तथा स्वय निर्गुण और निष्क्रिय है। इसी प्रसग पर उक्त मतव्य का निरसन करने के लिए 'गुण' पर विचार करते हुए सिद्धसेन आचार्य को लिखना पडा, "भगवान् ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय माने हैं। यदि पर्याय से गुण भिन्न होता, तो वे गुणास्तिकनय की भी योजना करते" (३ १०)। यही चर्चा राजवार्तिककार ने की है कि 'गुण' सज्ञा तो वैशेषिक आदि अन्य मतवादियो की है, जैन दर्शन म तो दो ही नय माने गये हैं, अतएव जो (जैनाचार्य) गुण को पर्याय स भिन्न मानते हैं, उन्हें तीसरा गुणार्थिक नय भी मानना पडेगा। तो फिर (अकलक शका करते हैं) "गुणपर्ययवद्द्रव्य" सूत्र में गुण और पर्याय का भिन्न भिन्न उल्लेख क्या किया गया है? इसका समाधान है कि अर्हत्प्रवचन आदि में गुण का लक्षण बताया गया है आदि। इससे स्पष्ट है कि अकलक की उक्त शका जैनेतरवादीजन्य नहीं, वह कुछ जैनाचार्यों को लक्ष्य में रखकर उठाई गई है। गुणार्थिक नय की मान्यता रूप हेतु जैन वादियों के लिये ही अनिष्टापत्ति हो सकती है क्योंकि जैन-दर्शन में ही मुख्यतया दो नय माने गये हैं। अजैनेतरवादियो के मत म गुणार्थिक नय की मान्यता के उल्लेखपूर्वक दोष प्रदर्शित करने का कोई अर्थ नही, क्योंकि उनके मत मे नय कोई वस्तु ही नहा। अर्हत्प्रवचनहृदय आदि जैनागम के प्रमाण भी जैनवादियो के लिये ही उद्धृत किये जा सकते हैं जैनतर तो उन्हे प्रमाण मानते नहीं। इसस 'तत्रानरारण' और 'आर्हताना तु' इन पदों की सगति बराबर बैठ जाती है। अतएव जो लेखक ने अन्य सम्प्रदाय क ग्रन्थों से 'गुण' शब्द लाकर रखा गया है इस आक्षेप का परिहार करन क लिये' आदि रूप म अपने कथन की पुष्टि करनी चाही है, वह नितात भ्रममूलक है।

२ आक्षेप—"तद्भावाव्यय नित्य, भेदादणु" आदि सूत्र, राजवार्तिक में शका होने पर ही उपन्यस्त किये गये हैं, तत्त्वार्थसूत्र पर शका उपस्थित होने के समय नहीं। अतएव जिस ग्रन्थ पर आक्षेप किया जाता है, उस आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं दिया जाता, यह प्रतिज्ञावाक्य असगत है।

२ उत्तर—इस आक्षेप का निराकरण करने के लिये मैंने पूर्व लेख में कुछ ग्रन्थ क नामोल्लेख किये थे। यहाँ मैं इन ग्रन्थों क कुछ उदाहरण उपस्थित करता हूँ।

(अ) सर्वार्थसिद्धि (पृ० ५६) में "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" सूत्रगत मति और श्रुत के प्रत्यासन्ननिर्देश की शका उठाकर उनमें कार्यकारणभाव बताते हुए 'श्रुत मतिपूर्व' आदि सूत्र को प्रमाणरूप मे उद्धृत किया है (अनयो प्रत्यासन्ननिर्देश कृत कार्यकारणभावात्। तथा च वक्ष्यते 'श्रुत मतिपूर्वमिति')। यहाँ एक ही सूत्रकार के एक सूत्र पर शका उठाकर उसका परिहार दूसरे सूत्र से किया गया है।

(आ) सिद्धसेनगणि ने उमास्वाति के 'जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्"

सूत्र-भाष्य पर प्रश्न उपस्थित होने पर सूत्रकार के ढेर के ढेर सूत्र साक्षी रूप से उद्धृत किये हैं।

(इ) स्वयं अकलंकदेव ने "नित्यावस्थितानि रूपाणि" (?) सूत्रगत 'नित्य' शब्द का प्रमाणपुरस्सर अर्थ बताते हुए "तद्भावाव्ययं नित्य" सूत्र उद्धृत किया है। इसी तरह "गुण-पर्ययवद्द्रव्यं" सूत्रगत गुणविषयक समाधान के लिये "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" सूत्र प्रमाण रूप से उपस्थित किया गया है। अकलंक ने स्वयं "द्रव्याश्रया" आदि सूत्र की उत्थानिका में कहा है—"आह गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्युक्तं तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा.।"

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य आदि ग्रन्थों के यहाँ इस तरह के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। यह बिलकुल स्थूल बात है कि जब कोई टीकाकार किसी सूत्र-ग्रन्थ आदि पर टीका लिखता है, तो प्रसंग आने पर उसे मूलग्रन्थकार के वाक्यों को प्रमाणरूप में शका निवृत्त्यर्थ उद्धृत करना पड़ता है। कभी तो, जब कभी कोई बात पूर्व सूत्र में नहीं आती, तो उसे बताना पड़ता है कि सूत्रकार आगे चलकर अमुक सूत्र में कहेंगे। ऐसे समय में उस सूत्रग्रन्थ के प्रमाण न देकर अन्य किसी ग्रन्थ के प्रमाण उद्धृत करने का कोई अर्थ नहीं। उमास्वाति की सौत्री रचना पर शंका उठाकर उसका परिहार अकलंक ने 'कालश्च' सूत्र से किया है, इस बात को स्वीकार कर लेखक पुनः स्ववचनबाधित दोष के भागी बने हैं। जिस ग्रन्थ पर आक्षेप हो, उस आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं दी जाने की बात उस समय अधिक लागू हो सकती है, जब कोई दर्शन आदि की खास चर्चा चल रहा हो और प्रतिवादी को ग्रन्थांतर के प्रमाण देने की आवश्यकता समझी जाती हो।

एक दूसरी बात। सूत्र उसको कहते हैं जो (स्वयं) बनाया जाय—गूँथा जाय (सूत्र्यंते ग्रथ्यते इति सूत्रं—हेमचन्द्र)। ऐसी हालत में यदि सूत्रकार अपना सूत्र न बनाकर दूसरे का सूत्र अपने सूत्रों में समाविष्ट कर ले, और वह भी पूर्वसूत्रकार के नामोल्लेख के बिना, तो क्या यह उमास्वाति जैसे प्रकाण्ड सूत्रकार के लिये प्रतिष्ठा की बात होगी? जिस विद्वान् ने समस्त जिन-शासन को इतने सुन्दर सूत्रों में गूँथ डाला, क्या वह आचार्य एक सूत्र के लिये परमुखापेक्षी बनता? यदि कदाचित् उन्हें कोई सूत्र किसीका लेना ही होता, तो वे ग्रन्थकार के नामोल्लेख बिना उसे कभी अपनी रचना में समाविष्ट न करते। क्या अनेकांत-सम्पादक, संस्कृत सूत्र-साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण बता सकेंगे, जब किसी सूत्रकार ने इस तरह से अन्यदीय सूत्रों को अपने सूत्रों में समाविष्ट कर लिया हो? ऐसी हालत में, अर्हत्प्रवचन को वर्तमान उपलब्ध अर्हत्प्रवचन (जिसे श्वेताम्बर ग्रन्थों में सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र माना गया है) का वाच्य न मानकर, अतीतकाल के किसी अनुपलब्ध अर्हत्प्रवचन नामक सूत्रग्रन्थ का स्वप्न देखना, कभी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

३ आक्षेप—अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ सिद्ध करने के लिये वादी सम्मत शास्त्रों से प्रमाण दिये जाने चाहिये। हम उन (श्वेताम्बर) ग्रन्थों को प्रमाणरूप से स्वीकार नहीं करते, जिनके उद्धरणपूर्वक अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ सिद्ध किया गया है।

३ उत्तर—यह एक बड़ी विचित्र दलील है। हम कहते हैं कि आप भाष्य को स्वोपज्ञ न मानें, हरिभद्र सिद्धसेन गणि आदि टीकाकारों के ग्रन्थगत मन्तव्यों को न मानें, लेकिन आप यह तो स्वीकार करेंगे कि इन विद्वानों ने तत्त्वार्थभाष्य पर टीकायें लिखी हैं तथा उन टीकाओं में अर्हत्प्रवचन का वाच्य सभाष्यतत्त्वार्थ बताया गया है। यह तो एक ऐतिहासिक प्रश्न है, सम्प्रदाय या सिद्धान्तभेद का प्रश्न नहीं। फिर उन ग्रन्थों को प्रमाण न मानने का क्या अर्थ? वेदों और ब्राह्मण पुराणों में जैन-तीर्थङ्करों का उल्लेख होने से उन ग्रन्थों तक को इस विषय में प्रामाणिक माना जाता है। स्वयं सिद्धसेनगणि की टीका में सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख होने से उसे अकलंक कृत ग्रन्थ मानकर सिद्धसेन गणि को अकलंक देव के बाद का बताया जाता है। फिर अर्हत्प्रवचन सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख को स्वीकार करने में क्या बाधा है? अनेकान्त संपादक जैसे इतिहासान्वेषियों को तो इससे प्रसन्न होना चाहिये कि राजवार्त्तिकगत अर्हत्प्रवचन या अर्हत्प्रवचनहृदय ग्रन्थ के खोज करने की अब आवश्यकता नहीं, और श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार से उसका पता चल गया है। अतएव श्वेताम्बर ग्रन्थों को प्रमाण न मानने आदि की बात की कुछ भी कीमत नहीं।

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

१ आक्षेप—तत्त्वार्थभाष्यगत सम्बन्धकारिकाओं में भाष्यकार अपने लिये 'वक्ष्यामि' 'प्रवक्ष्यामि' जैसे एकवचनान्त पद प्रयोग करते हैं, जब कि भाष्य में 'उपदेक्ष्यामः' 'वक्ष्यामः' जैसे बहुवचनान्त प्रयोग नजर आते हैं। इससे मालूम होता है कि सम्बन्धकारिकाओं के कर्त्ता एक व्यक्ति, शायद उमास्वाति, हैं और भाष्य के कर्त्ता कोई दूसरे—सम्भवतः अकलंक, हैं। तथा 'आह', 'व्याचष्टे' जैसे प्रथम पुरुष के एकवचनान्त प्रयोगों द्वारा भाष्यकार ने सूत्रकार को अपने से स्पष्ट जुदा प्रकट किया है। अतएव भाष्य स्वोपज्ञ नहीं।

१ उत्तर—यहाँ इसी का एक प्रत्यनुमान किया जाता है। सागारधर्मामृत की भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका स्वयं पं० आशाधरजी की नहीं, क्योंकि उक्त ग्रन्थ की सम्बन्धकारिका (नम्बर १) में टीकाकार 'करोम्यहम्' जैसे एकवचनान्त पद प्रयोग करते हैं, जब कि प्रथम श्लोक की टीका में 'प्रतिपादयिष्यतस्माभिः' जैसा बहुवचनान्त प्रयोग नजर आता है। इससे मालूम होता है कि सम्बन्धकारिका के कर्त्ता एक व्यक्ति शायद पं० आशाधर जी हैं और टीका के कर्त्ता कोई दूसरे—सम्भवतः अकलंक हैं। तथा 'आह', 'उपदिशति', 'व्यनक्ति', 'दर्शयति' जैसे प्रथमपुरुष के एकवचनान्त प्रयोगों द्वारा टीकाकार ने ग्रन्थकर्त्ता को अपने से स्पष्ट

जुदा प्रकट किया है। अतएव सत्यकुमुदचन्द्रिका स्वोपज्ञ नहीं हो सकती। इसी तरह हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसावृत्ति भी स्वोपज्ञ नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ भी 'पंचभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः' (पृष्ठ ३), 'लाघवार्थिना शास्त्रकारेण' (पृष्ठ ३) 'लक्षणमाह' (पृष्ठ ४), 'लक्षणमुक्तोऽस्माभिः' (पृष्ठ ८), 'यदवदाम स्तुतौ' (पृष्ठ २३), 'अवोचाम हि' आदि पदप्रयोगों मे कहीं प्रथमपुरुष का एक वचन है, कहीं उत्तम पुरुष के बहुवचनान्त प्रयोग हैं, और कहीं तृतीयान्त पद हैं। कणादसूत्र, शांकर-भाष्य आदि के भी बहुत-से कर्त्ता मानने पड़ेंगे, उनमें भी 'अभिधास्यामः', 'वक्ष्यामः' पद मिलते हैं। स्वयं राजवार्त्तिककार ने संबंधकारिका में 'वक्ष्ये' लिखा है, और वार्त्तिकभाष्य मे 'मन्यामहे' आदि। फिर, तो राजवार्त्तिक के भी अनेक कर्त्ता ठहरेंगे।

तथा 'वक्ष्यामि' (कारिका २२) और 'प्रवक्ष्यामि' (कारिका ३१) पदों से उमास्वाति को केवल संबंधकारिकाओं का ही कत्ता क्यों माना जाय ? वक्ष्यामि' और 'प्रवक्ष्यामि' पदों का वाच्य सबंधकारिकायें तो हैं नहीं, उनका वाच्य तो तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्र है, जो अर्हद्वचन का एक देश है, या मोक्षमार्ग है जिसका उमास्वाति प्ररूपण करना चाहते हैं। यदि फिर भी सबंधकारिकाओं का ही एककर्तृत्व मानने का आग्रह है, तो फिर उक्त दो कारिकाओं को ही उमास्वातिकृत माननी चाहिये। तथा जब आप संबंधकारिकाओं को उमास्वातिकृत मानते हैं तो फिर इन कारिकाओं का दिगम्बरपरम्परा में क्या हुआ ?

वास्तव मे उक्त दलील ही बेतुकी है। वस्तुतः बात यह है कि आचार्य कहीं उत्तम पुरुष का एक वचन लिखते हैं, कहीं बहुवचन, कहीं वे स्वयं अपने लिये 'आचार्यः उपदिशति' आदि रूप से पदप्रयोग करते हैं, इसमे कोई आपत्ति की बात नहीं। उक्त 'करोम्यहम्' पद में पं० आशाधर यदि बहुवचन का प्रयोग करते तो छंदोभंग होता; इसीलिये भाष्यकार ने भी संबधकारिकाओं में बहुवचन का प्रयोग नहीं किया। इस पर से जो संबंधकारिकाओं, सूत्र तथा भाष्य के एककर्तृत्व को 'छूमंतर की तरह उड़ाने' का दावा है, वह केवल शायद किसी जादूबल से ही किया गया हो, युक्ति से तो यह संभव नहीं। शायद इसी तरह की दलीलें देकर आप जय-घोषणा करना चाहते हैं।

(क्रमशः)

विविध

(१)

'श्रीवादीभसिंह' के संबंध में

प्रिय महोदय,

'वादीभसिंह' संबंधी निबंध, जो आपने सम्मत्यर्थ मेरे पास भेजा है, मिला। इसके लिखने में काफी परिश्रम किया गया है। यह आलोचनात्मक, मर्यादित और अपने विषय पर पूरा प्रकाश डालनेवाला है। मैं समझता हूँ, मुख्य मुख्य प्रश्नों पर इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता; हाँ, इधर उधर कुछ बातें निश्चितरूप से अवश्य कही जा सकती हैं। वादीभसिंह के चोल 'राजराज' प्रथम या द्वितीय के समकालीन होने के सम्बन्ध में आपने जो प्रमाण दिये हैं, वे अपर्याप्त हैं और फलतः उनसे मुझे सन्तोष नहीं हो सका। उसके सम्बन्ध में दक्षिण भारत के तत्कालीन इतिहास में अभी और अनुसन्धान की जरूरत है।

वासस्थान के सम्बन्ध में—जैसा कि वास्तविक नाम 'ओडेयदेव' से निर्णय किया गया है—मेरा व्यक्तिगत विश्वास है कि इस संबंध में अभी और अनुसंधान की जरूरत है। आपने तमिलदेश में गुडीयपत्तन' (Gudiyapatana) की जो चर्चा की है, वह सन्दिग्ध है। हाँ, यदि आप गुडीय' और 'ओडेय' में कोई अन्तर नहीं समझते हों, तो बात ही दूसरी है। लेकिन मैं तो नहीं समझता कि दोनों को एक बतलाना तथ्यपूर्ण कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'ओडेय' और 'गौडेय' कलिंग (तिलुगु) देश के गंजाम जिले (जो मद्रास प्रान्त के एकदम उत्तर में है, और जो अब उड़ीसा में जोड़ दिया गया है) की जातियाँ हैं, और दोनों में पारस्परिक संबंध भी है। लेकिन इससे तो यही सिद्ध होगा कि ओडेयदेव मूलतः उड़ीसा के रहनेवाले थे मैसूर प्रान्त के नहीं। इस संबंध में आपके लेख में वर्णित वादीभसिंह के शिष्यों के नाम से भी पता चलता है। कुछ को आपने 'सान्तर' बतलाया है। ये सान्तर राज्य के उत्तराधिकारी होते थे। इस संबंध में मुझे पूरा निश्चय है कि 'सान्तर' 'सामन्तर' का ही दूसरा रूप है, और सामन्तर' का अर्थ है—कर देनेवाला सर्दार। यह एक विचित्र बात है कि यही 'सान्तर' आज तक गंजाम जिले के कई ओडीय परिवारों में पौरुष नाम के रूप में पाया जाता है, हाँ, वहाँ वह सान्तर' न होकर 'सान्त' के रूप से प्रचलित है। कलिंग के इतिहास में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि सिंहनन्दी नाम के एक जैन आचार्य (cf Epi Karnataka) की सहायता से कलिंग के गंगवंश की एक शाखा ने मैसूर में गंगवाड़ी राज्य की स्थापना की थी (Studies in South Indian Jainism—Maharajas College, Vizianagaram द्वारा प्रकाशित देखें)। ख्रिस्त शक० के प्रारम्भिक

वर्षों में, यानी अशोक के राज्यकाल के बाद, कलिंग में जैनधर्म खारवेल की संरक्षा में उन्नतिशील था। खारवेल चेदीय कुल का था। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि वादीभसिंह या ओडेयदेव जन्मतः उत्कल या ओडेय अथवा उड़िया सर्दार रहे होंगे, और शास्त्रार्थ-द्वारा धार्मिक दिग्विजय के लिए मैसूर प्रान्त या श्रवणबेलगोल को गये होंगे, और आन्ध्र-कलिंग देश की राज-सभाओं की अपेक्षा द्राविड़-कर्णाट देश की राजसभाओं में उनकी विद्वत्ता की अधिक कद्र हुई होगी।

मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि इस सम्बन्ध में आप अधिक छानबीन करें, यदि आप ऐसा करना उचित समझें।

आपका—बी० शेषगिरि राव, (एम० ए०)

(२)

बादामि

हमारे यहाँ पहाड़ों को काट-काट कर बनाई हुई अनेक भव्य गुफाएँ मौजूद हैं, इस बात को 'भास्कर' के विज्ञ पाठक भली भाँति जानते हैं। इनमें दो प्रकार की हैं, एक चैत्य और दूसरा विहार। चैत्य के भीतर स्तूप या मूर्त्तियाँ होती हैं और विहार या मठ में साधु-भिक्षुकों के रहने के लिये अलग-अलग कमरे बने हुए होते हैं। ऐसी गुफाएँ विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें से अजंता, इलोरा, कार्ली, भाजा, बेड़पा आदि प्रमुख हैं। दक्षिण के अतिरिक्त काठियावाड़ में जूनागढ़ के पास, राजपुताने में झालावाड़ राज्य में, कोलवी, और मध्यभारत में धमणार, बाघ आदि में ऐसे स्थान हैं। इलोरा, कार्ली आदि कितनी भव्य गुफाओं की कटाई की सुन्दरता देखकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी गुफाओं में अधिकतर बौद्ध हैं। हाँ, थोड़ी-सी जैन एवं वैदिकधर्म की भी हैं। बल्कि इलोरा उदयगिरि* आदि कुछ स्थानों में बौद्ध, जैन एवं वैदिक इन तीनों धर्मों से संबंध रखनेवाली भव्य गुफाएँ एक ही जगह मौजूद हैं। यह सचमुच हमारे प्राचीन भारत की मतसहिष्णुता का एक सुन्दर ज्वलन्त निदर्शन है।

दक्षिण की भव्य गुफाओं में बादामि की गुफाएँ भी उल्लेखनीय हैं। बादामि बम्बई प्रान्तार्गत बिजापुर जिला में है। यह एस० एम० रेलवे का एक छोटा स्टेशन है। यहाँ पर चार गुफाएँ वर्तमान हैं। इनमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय गुफाएँ हिन्दुओं की हैं। सिर्फ चतुर्थ गुफा जैनियों की है। पर यह स्थान जैन गुफा के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस नोट में मैं केवल चतुर्थ जैन गुफा का ही कुछ परिचय दे रहा हूं। अवशिष्ट हिन्दू गुफाओं का

* यह ग्वालियर राज्यान्तर्गत भिलसा के पास है। विशेषपरिचय के लिये 'बालक' वर्ष १५, अङ्क ८ देखें।

विस्तृत परिचय राजकीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से प्रकाशित Basreliefs of Badami नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

यह जैन गुफा ३१ फीट लम्बी और १९ फीट चौडी है। इसमें तीन दर हैं। पहला दर लगभग दो हाथ चौडा है। इसकी पश्चिम की दीवाल पर करीब एक हाथ की एक मूर्ति उत्कीर्ण है। पूर्व की दीवाल में कुछ नहीं है। दूसरा दर करीब चार हाथ चौडा है। इसकी पश्चिम की दीवाल पर फण छोड कर पाँच हाथ की पार्श्वनाथ की एवं पूर्व की दीवाल में इतनी ही बडी बाहुबली की सुन्दर मूर्ति अङ्कित है। इन मूर्तियों के अगल बगल में और भी कुछ मूर्तियाँ हैं। तीसरा दर करीब तीन हाथ चौडा है। पहले दर के छह खम्भों में कोई मूर्ति अङ्कित नहीं है। हाँ, इनकी कारीगरी अवश्य दर्शनीय है। दूसरे दर के बीच के दो खम्भों में चारों तरफ लगभग एक हाथ की एक-एक खड्गासन मूर्ति खुदी हुई है। इन खम्भों की पूर्व और पश्चिम की दीवाल के सहारे जो दो खम्भ और हैं उनमें भी पूर्व और पश्चिमाभिमुख लगभग डेढ डेढ हाथ की एक एक खड्गासन मूर्तियाँ अङ्कित हैं। वेदी के बाहर, तीसरे दर की दक्षिण की दीवाल में, दरवाजे से पश्चिम, उत्तराभिमुख बीच में लगभग दो हाथ की एक खड्गासन मूर्ति, इसकी दाहिने बायें ओर चार चार पंक्तियों में, प्रत्येक में तीन-तीन के हिसाब से करीब नौ नौ इञ्च की २४ मूर्तियाँ, फिर इनके नीचे एक एक हाथ की और चार मूर्तियाँ एवं इन मूर्तियों के नीचे भी छोटी-छोटी पद्मासन की उतनी ही (चार) मूर्तियाँ अङ्कित हैं। बल्कि इनके पास ही पश्चिम तथा पूर्व की ओर लगभग एक एक हाथ की एक एक खड्गासन मूर्ति और उत्कीर्ण है। हाँ, दरवाजे के पूर्व की ओर की दीवाल में नीचे की चार खड्गासन मूर्तियाँ नहीं हैं। तीसरे दर के पूर्व और पश्चिम की दीवालों पर भी यक्ष यक्षी सहित बडी-बडी दो मूर्तियाँ, नीचे करीब डेढ डेढ हाथ की और दो खड्गासन मूर्तियाँ, बडी मूर्तियों के अगल बगल में ऊपर चार चार पंक्तियों में, क्रमशः प्रथम में दो दो पद्मासन, नीचे तीन तीन के हिसाब से छोटी-छोटी खड्गासन अर्थात् पूर्व दिशा में एक एक तरफ ग्यारह ग्यारह के हिसाब से २२, इसी प्रकार पश्चिम दिशा में २२—कुल ४४ मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। पश्चिम की दीवाल में एक एक हाथ का उत्तराभिमुख तीन खड्गासन मूर्तियाँ, इतनी ही बडी दाहिने बायें ओर एक एक मूर्ति और मौजूद है। हाँ, पूर्व भाग में एक दीपस्थान (ताखा) के अगल-बगल में दो मूर्तियाँ और खुदी हुई हैं। एक ही पंक्ति में विद्यमान इन तीन तीन मूर्तियों के दोनों तरफ दो-दो मूर्तियाँ और दृष्टिगोचर होती हैं।

भीतर वेदी में महावीरस्वामी की विशालकाय पद्मासन मूर्ति विराजमान है। यहाँ का मूर्तियों में चिह्न बहुत कम अङ्कित पाया जाता है। सुना है कि इस गुफा का पूर्व दिशा में एक फर्लाङ्ग की दूरी पर और भी एक जैन गुफा वर्तमान है, जिसमें एक पद्मासन जिन मूर्ति

विराजमान है। प्राचीनकाल मे बादामि चालुक्यों की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम वातापि है। पुलकेशी प्रथम ने छठी शताब्दी के प्रारम्भ में इसे अपनी राजधानी बनाया था। श्रीफर्गुसन के मत से यह जैन गुफा लगभग ई० सन् ६५० मे खोदी गई थी। यहाँ पर ई० सन् ५७९ का एक लेख मौजूद है।

विजापुर मे भी तीन दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में जिला जेल के पास का मन्दिर अधिक प्राचीन है। इस मन्दिर मे विराजमान मूर्त्तियां मे से एक मे सं० ११५० का एक लेख पाया जाता है। इसमें लिखा है कि यह मूर्त्ति सकलकीर्त्ति के शिष्य मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ एवं कुन्दकुन्द अन्वय के कनककीर्त्ति के उपदेश से सं० ११५० में स्थापित हुई। यहां के लोक-विश्रुत गोल गुम्बज के सामने वर्तमान राजकीय पुरातत्त्व-विभाग मे भी कई बड़ी-बड़ी भव्य पद्मासन एवं खड्गासन दिगम्बर जैनमूर्त्तियां विद्यमान हैं। कुछ मूर्त्तियों मे लेख भी मौजूद हैं। अवकाशाभाव से मैं इन लेखों को नहीं पढ़ सका। मैंने बादामि की यह यात्रा १८-२-४१ को की थी।

—के० भुजबली शास्त्री

समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार

षट्खण्डागम —'धवला' टीका और उसके हिन्दी भाषानुवाद सहित (प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' का 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नामक तृतीय अंश), मूल लेखक—भगवान् पुष्पदन्त एवं भूतबलि, प्रधान सम्पादक—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल एल बी० संस्कृताध्यापक 'किंग एडवर्ड कालेज' अमरावती, प्रकाशक—श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द शिताबराय, 'जैन साहित्योद्धारक फण्ड' कार्यालय, अमरावती, बड़ा साइज, पृष्ठ सं० सब मिलाकर ६०८, मूल्य सजिल्द प्रति का १०), शास्त्राकार का १२) रुपये, वीर सं २४६७।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मूडबिद्री की धवला, जयधवला, महाधवला और त्रिलोकसार की प्राचीन ताडपत्राङ्कित प्रतियों के पत्रों के एवं बची हुई मूल प्रतियों के फोटो दिये गये हैं। साथ में गुरुबसदि और होसबसदि नामक वहाँ के दो विशाल मनोज्ञ मंदिरों का, स्वर्गीय तथा वर्तमान भट्टारकजी का, सिद्धान्तबसदि के ट्रस्टी श्रीमान् देवराजजी और धर्मपालजी का एवं सिद्धान्त ग्रन्थों की प्रतिलिपि और मिलान करनेवाले लोकनाथजी शास्त्री का भी चित्र दिया गया है। चित्रों की संख्या ९ है। साथ में चित्रों का परिचय एवं मूडबिद्री का संक्षिप्त इतिहास भी लगा हुआ है। यह संक्षिप्त इतिहास तो मूडबिद्री के इतिहास की एक रूपरेखामात्र है। यों तो यहाँ के इतिहास के साधन अन्यान्य शिलालेख, ताम्रपत्र एवं साहित्य में भरे पड़े हैं, जिन्हें अभीतक किसी ने छुआ ही नहीं है। 'धवला' आदि ताडपत्रीय प्रतियों के फोटो भेजने की प्रेरणा ट्रस्टी धर्मपालजी से मैंने ही की थी। उस समय मैं मूडबिद्री में था और 'महाधवल' की खोज के निमित्त भट्टारकजी आदि के द्वारा अन्य विद्वानों के साथ 'सिद्धान्तबसदि' में मैं भी आमन्त्रित था।

प्रस्तावना में चित्रपरिचय और मूडबिद्री का इतिहास शीर्षकों के अतिरिक्त महाधवल की खोज, उत्तरप्रतिपत्ति और दक्षिणप्रतिपत्ति पर कुछ और प्रकाश, णमोकार मंत्र के सादित्व अनादित्व का निर्णय, शङ्कासमाधान, द्रव्यप्रमाणानुगम एवं मूडबिद्री की ताड़पत्रीय प्रतियों के मिलान का निष्कर्ष ये शीर्षक भी गर्भित हैं। शङ्कासमाधान शीर्षक में कुछ स्वाध्यायप्रेमियों के आगत पत्रों का शङ्कासमाधान अच्छा किया गया है। द्रव्यप्रमाणानुगम में इस भाग के अन्तर्गत गणितभाग का जो परिचय दिया गया है, वह भी विद्वत्तापूर्ण है। इस खण्ड का मुख्य विषय गणित है। इसमें आये हुये गणित के गहन भाग अनुवाद में बीज-गणित और अङ्कगणित के कोई २८० उदाहरणों तथा ५० विशेषार्थों एवं ३३३ पाद टिप्पणों द्वारा सुगम एवं सुबोध बनाने की भरसक चेष्टा की गई है। इस कार्य में कालेजों के बड़े-बड़े गणिताध्यापकों से भी सहायता ली गई है। इसमें सन्देह नहीं है कि प्रो० हीरालालजी ने इस

भाग के गणित के दुरूह एवं अपरिचित विषयों को सुलभ बनाने के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है।

प्रस्तावना के बाद विस्तृत विषय-सूची के अतिरिक्त कुछ सूचनाओं के साथ एक शुद्धि-पत्र भी लगा हुआ है जिसमें तीनों खण्डों मे रहने वाली प्रेस आदि की अशुद्धियों को क्रमशः शुद्ध किया गया है। हिन्दी-भाषानुवाद भी सुन्दर है। ग्रन्थ के अन्त में ६ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जो कि बड़े उपयोगी हैं। कागज, छपाई, सफाई एवं गेटअप् सभी चित्ताकर्षक हैं।

अब मूडबिद्री के भट्टारकजी एवं पंचों की उदारता से वहाँ की प्राचीन प्रतियों के पाठ-मिलान का भी सुअवसर प्राप्त हो गया है। पाठभेदों को विभाजन करके परिशिष्ट मे दे दिया गया है। इससे अब मूल ग्रन्थ की प्रामाणिकता मे जो कुछ आशंका की जाती थी वह भी दूर हो जायगी। इस कार्य के लिये मैंने भी प्रेरणा की थी। प्रसन्नता की बात है कि 'धवला' का प्रकाशनकार्य उत्तरोत्तर उन्नतिपथ पर है। 'भास्कर' के विज्ञ पाठकों को ग्राहक बनकर इन बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों से अवश्य लाभ उठाना चाहिये। इसमे संचालकों का उत्साह बढ़ेगा और आर्थिक सङ्कट दूर होकर आगे का यह गुरुतरकार्य सुचारुरूप से चलेगा।

—के० भुजबली शास्त्री

दानशासनम्—मूल लेखक—महर्षि वासुपूज्यः सम्पादक और अनुवादक—वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, न्यायकाव्यतीर्थ; प्रकाशक—गोविन्दजी रावजी दोशी शोलापुर; डिमाई ८ साइज; पृष्ठ-संख्या—सब मिलाकर ३७२, मूल्य दो रुपये; वीर सं० २४६७; छपाई, कागज आदि सुन्दर।

इस ग्रन्थ मे चतुर्विध दान का विस्तार से विवेचन किया गया है, जो कि एक सच्चे श्रावक के दैनिक आवश्यक कर्त्तव्यों में से एक है। ग्रन्थगत अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि इसके रचयिता महर्षिवासुपूज्य हैं और यह ग्रन्थ शालिवाहन शक १३४३ विषु सम्वत्सर के माघ शुक्ल दशमी को समाप्त हुआ था। इन बातो के अतिरिक्त ग्रन्थप्रणेता के संबंध में प्रस्तुत कृति से तो कुछ भी पता नहीं लगता। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने अपने इस ग्रन्थ में अपनी गुरुपरम्परा, गण, गच्छ आदि की कुछ भी चर्चा नही की है। दक्षिण के कतिपय शिलालेखों मे 'वासुपूज्य' यह नाम मिलता है अवश्य। पर प्रस्तुत वासुपूज्य के गण, गच्छ आदि के न मालूम होने से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक वासुपूज्य ही इस दानशासन के रचयिता हैं। ग्रन्थ की संस्कृत-रचनाशैली अच्छी है। हाँ, कही कही खटकती है अवश्य।

इसके हिन्दी-भाषानुवादक समाजविश्रुत, उत्साही विद्वान् पं० वर्द्धमानजी शास्त्री शोलापुर हैं। यो तो शास्त्रीजी की मातृभाषा कन्नड है। फिर भी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद सुन्दर हुआ है। इसमे शक नहीं है कि विद्वान् अनुवादक ने अनुवाद मे पर्याप्त परिश्रम

लिया है। सुधारक हो या स्थितिपालक प्रत्येक श्रावक को एक बार इस ग्रंथ को अवश्य पढ़ लेना चाहिये। अपने पूर्वनिर्धारित विचारों के प्रतिकूल, कतिपय बातों को देखकर तुरत भड़क जाना यह कमजोरी का एक चिह्न है। विचारशील व्यक्तियों को अपेक्षावाद से काम लेना चाहिये। इसका यह अर्थ लगाना अन्याय होगा कि मैं किसी बात को आँख मूंद कर मान लेने के लिये कह रहा हूं। जैन साहित्य बहुत विशाल है। यह ध्रुव सत्य है कि प्रत्येक साहित्य में देश, काल आदि का गहरा प्रभाव पड़ना सर्वथा अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में विशाल साहित्य का पूरा अध्ययन किये बिना ही किसी निर्णय पर पहुंच जाना अदूरदर्शिता है।

अस्तु, एक नई रचना को प्रकाश में लाने के उपलक्ष में श्रीमान् गोविन्दजी रावजी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—के० भुजबली शास्त्री

निमित्तशास्त्रम्—मूलरचयिता—महर्षि ऋषिपुत्र, अनुवादक—धर्मरत्न प० लालाराम शास्त्री, सम्पादक और प्रकाशक—प० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणपावर प्रिन्टिंग प्रेस, शोलापुर, पृष्ठ संख्या ४४, मूल्य—।=), वीर सं० २४६७।

इसकी छपाई और सफाई अच्छी है। इसके देखने से इस बात का पता भलीभांति लग जाता है कि जैनाचार्यों ने ज्योतिष शास्त्र पर भी काफी प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी सम्पूर्ण रचनाएं आज हमें उपलब्ध नहीं होतीं। जो उपलब्ध भी हैं उनके प्रकाशन की ओर समाज का ध्यान नहीं जाता है। वास्तव में प० वर्द्धमानजी ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। यदि इसका प्रकाशन टिप्पणी सहित होता तो यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी बन जाता। मेरे सामने जैन सिद्धान्त-भवन, आरा की जो हस्तलिखित प्रति मौजूद है, उसकी किसी किसी गाथा सम्बन्धी टिप्पणी विशेष महत्वपूर्ण है। उसमें ग्रन्थ का विषय ही स्पष्ट नहीं होता बल्कि विशेष बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। अतः उपलब्ध सभी प्रतियों को सामने रखकर फुटनोटों सहित यदि यह पुस्तक प्रकाशित की जाती तो यह एक अनूठी चीज तैयार हो जाती।

इस छोटी सी पुस्तक में ग्रन्थकर्त्ता ने सूर्योदय के समय दिशाओं के रक्तादि वर्णों का फल, सूर्यचन्द्रमा के चिह्नों का फल, उपद्रवसूचक चिह्नों का वर्णन, वर्षा का निमित्त, स्त्री, गाय, कुत्ती, घोड़ी, हस्तिनी आदि के जनन का फल, छत्रभग, राजभंग, नरपतिमरण, ग्रामदाहभग आदि निमित्तों का वर्णन, प्रतिमा जी के रोने, हँसने, चलने, पसीजने आदि का फल, बिजली चमकने का फल, इन्द्रधनुष का फल, उल्कापात का फल आदि फलादेशों का वर्णन बहुत अच्छी तरह से किया है। इसमें कई फलादेश हिन्दू ज्योतिष की अपेक्षा अधिक

महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये नक्षत्रक्रम से वर्षा का फलादेश ही लिया जा सकता है। इसमे प्रत्येक नक्षत्र मे प्रारम्भ होने वाली वर्षा का फल बतलाया गया है। परन्तु अनुवादक ने इन गाथाओं का अर्थ खुलासा नहीं किया है। अतः मेरा विचार है कि इसमे वर्षारम्भ मे सूर्यनक्षत्र क्रम से वर्षा का फलादेश बनाया गया है। "अह कित्तिआहि वरसइ सस्साण विणासनो हवइ देवो। रोहिणिसु सुप्पत्ती देसरसवि णत्थि संदेहो॥" इस गाथा का अर्थ यह होना चाहिये कि यदि वर्षा प्रारम्भ काल मे जब सूर्य कृत्तिकानक्षत्र पर होवे तब पानी बरसे तो अनाज की हानि होती है और सूर्य के रोहिणीनक्षत्र में रहने पर पानी बरसे तो देश की हानि होती है। यद्यपि गाथा से यह अर्थ नहीं निकलता है। लेकिन प्रकरण से यही अर्थ जान पड़ता है। क्योंकि चन्द्रनक्षत्र ग्रहण करने में अनेक विरोध आते हैं जिनको यहां दिखलाना अप्रासंगिक है। अतः इसके द्वितीय संस्करण मे यह सुधार होना आवश्यक है। सधारणतया यह पुस्तक प्रत्येक गृहस्थ के लिये उपयोगी है। इससे आगे आनेवाले इष्टानिष्ट का पता भलिभांति लग सकता है। प्रत्येक गृहस्थ को इसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषशास्त्री और तीर्थ

संक्षिप्त जैन इतिहास—(भा० ३, खण्ड ३) लेखक—बा० कामता प्रसाद जैन. प्रकाशक—मूलचन्द किसन दास कापड़िया, दि० जैन पुस्तकालय सूरत, मूल्य—बारह आने।

मोक्षशास्त्र—(सचित्र और सटीक) अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; प्रकाशक—मूलचन्द किसन दास कापड़िया, दि० जैन पुस्तकालय सूरत, मूल्य—बारह आने।

नेमिनाथ पुराण—(कन्नड) रचयिता—कर्णपार्य, प्रकाशक—विश्वविद्यालय मद्रास; मूल्य पाच रुपये।

त्रिपुरदाह (त्रिपुरदहन का गद्यानुवाद)—अनुवादक—पं० तिम्मप्पय्य; प्रकाशिका—श्रीमती देजम्म, भाषा—कन्नड, मूल्य—सद्विनियोग, वीर सं० २४६७।

तत्वार्थसूत्र—जैनागमसमन्वय—समन्वयकर्त्ता—मुनि श्री आत्मराम जी; प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी; मूल्य—॥।) ; वीर स० २४६७।

THE DVAITA PHILOSOPHY AND ITS PLACE IN THE VEDANTA. *By* Vidwan H. N. Raghavendrachar, M A

Published by—The University of Mysore Rs. 3-0-0

—के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८—वि० सं० १९९८, वीर० सं० २४६८

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल-एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम ए, डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)   विदेश में ३॥)   एक प्रति का १।)

ई० सन् १९४१

विषय-सूची

प्रशस्ति-संग्रह

प के भुजबली शास्त्री

यस्योपदेशवशतो जिनपुंगवस्य
नेमे पुराणमतुलं शिवसौख्यकारि
चक्रे मयापि अतितुच्छतयात भक्त्या
कुर्वन्त्विदं शुभमतं मम मङ्गलानि ॥
शान्तिं कान्तिं सुकीर्त्तिं सकलसुखयुतां सम्पदाञ्चायुरुच्चैः
सौभाग्यं साधुसंगं सुरपतिमहितं सारजैनेन्द्रधर्मम् ।
विद्यां गोत्रं पवित्रं सुजनजन
श्रीनेमेः सत्पुराणम् ॥

भुवनैकचूडामणिश्रीनेमिजिनपुराणे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्याचार्यश्रीसिंहनन्दि नामाङ्किते ब्रह्मनेमिदत्तविरचिते श्रीनेमितीर्थङ्करपरमदेवपञ्चमकल्याणकव्यावर्णनो नाम पद्मनामनवमबलदेवकृष्णनामनवमनारायणजरासंघनामप्रतिनारायणचरित्रव्यावर्णनो नाम षोडशोऽधिकारः समाप्तः ।

यह ब्रह्मचारी नेमिदत्त वि० सं० १५७५ के हैं। इन्होंने धर्मानपुराण, धर्मपीयूषश्रावकाचार, आराधनाकथाकोष, श्रीपालचरित्र, प्रियंकरचरित्र आदि कई ग्रंथों की रचना की है। इनमें से एक दो ग्रन्थ छप भी चुके हैं। मूलसंघ एवं सरस्वती गच्छवाले श्रीभट्टारक मल्लिभूषण के यह शिष्य हैं। प्रशस्ति में इन्होंने सिंहनन्दी जी की बड़ी प्रशंसा की है और लिखा है कि इन्हीं की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का मैंने प्रणयन किया है। नेमिदत्त जी ने आराधनाकथाकोष की प्रशस्ति में 'यशस्तिलकचन्द्रिका' आदि के कर्त्ता, श्रीश्रुतसागरसूरि को गुरुभावना से स्मरण किया है और इन्होंने इस ग्रन्थ में मल्लिभूषण की वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। नेमिदत्त जी की रचनायें साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर एवं सरल हैं।

(५१) ग्रन्थ नं० ६८/क

वर्द्धमानकाव्य

कर्त्ता—जयमित्र

विषय—काव्य

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १२। इञ्च चौडाई ६॥ इञ्च पत्रसंख्या ५६

प्रारम्भिक भाग—

सिरि परमप्पयभावणु सुहगुणपावणु ।
जियणियजम्मजरामरणु ॥
सासयसिरसुंदरु पणयपुरंदरु ।
रिसहु णविवि तिहुयणसरणु ॥
पणवेप्पिणु पुणु अरहंताण दुक्कम्ममहारिकयंताणं ।
वसुगुणसंजोयसमिद्धाणं सिद्धाणं तिजयपसिद्धाणं ॥
सूराणं सुद्धसचित्ताणं वयसंजमभावियचित्ताणं ।
पयडियसमग्गसस्सायाणं भव्वयणहो णिरुउज्झायाणं ॥
साहुणं साहिय मोक्खाणं सुविसुद्ध झाणविहि दक्खाणं ।
समत्तणाणसुचरित्ताणं सति सुद्धए णवमि पवित्ताणं ॥
वसहाइसुगोतमणां माणं सुगणाणं संजम धामाणं ।

अवहारिवकेवलवताणं ॥ पुट्ठ विरप विसाल महंत्ताणं ॥घत्ता॥ णरलोयहो मंडणा-कुणायविहउणो ॥ तिहिसमयहि पयडिय सम्मय ॥ अचरवि सिच्छंकर तिययसुहुंकर ॥ तिण्णे सुर सिद्ध णयरिगया ॥१॥ पवणपविति वज्जा दुम्मेदहं चितामणि वसमत्त समीहहं ॥ रवि दित्त वतमभरणि णासिण जण णित्र वंछिय सुर कुंभाभिणि ॥ सग्ग महिव सुरसच्छ विहसिया गिरिभूयविकाहिकुलहिसमासिय ॥ नीर वराय हंस गयभामिणी कोमुईव कुवलय सिरिदाविणी ॥ चक्किणिय मुहजं सासण देविउ णासेसउ जिणवर पयसेविउ ॥

× × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ २७, पंक्ति ५)—

तु मुणिवि पयपइ मगहराउ किं साहुलपियकह बहु पलाउ ॥ मुणि कि अयाणु अहि कि असक्कु ज दुख सहेसइ तजि थक्कु ॥१०॥ ता चेलणाइ जंपिउ णरिंदु णउ तजइ णायडिउ मुणिंदु ॥ जहि रत्तु धक्कुगुरुवतणजेम कुडिल्ल दिसिम गुरुणा जाइ तेम ॥ उवसग्गु होंतुमणो विलाइ दुक्खवि सुक्खागमुमुणइ साउ ॥ णउ पिंडइ मक्कू मणि धरेइ सुवसमणा इतो सुणु करेइ ॥ तिणु कुजगि अरिसुहिसम गिणतु तउ तवइ घोरु कम्मइ हणतु ॥ वावीस परीसह सहणमल्लु धम्मु्वय धारउ मुणणिमल्लु ॥ णाणे परियाण इणेय मग्गु णविरो कारिणा उवलक्खु महुपहु ॥

× × × ×

अंतिम भाग—

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्यसंवत्सर १६०० तत्र वर्ष फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयाया तिथौ शुक्रवासरे श्रीतिजारास्थानवास्तव्यो साहि आलमुराज्यप्रवर्त्तमाने श्रीकाष्ठासंघ माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्र देवा तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहु तोल्हा भार्या राणी तस्य पुत्र जिनदास तस्य भार्या शोभा तत्पुत्रा पञ्च प्रथमपुत्र साधुमहादासु द्वितीयपुत्र साधुगेल्हा तृतीयपुत्र साधुनुगराजु चतुर्थपुत्र जगराजु पञ्चमपुत्र साधुसिंह जिनदासप्रथमपुत्र महादासु तस्य भार्या देवासही तस्य पुत्र तेजनु तस्य भार्या लाडो जिनदासद्वितीयपुत्र गेल्हा तस्य भार्या खामाही तस्य पुत्रो देमालु तस्य भार्या भागो तस्य पुत्र नगराज तस्य भार्या धणपालही पुत्रा त्रयाः प्रथमपुत्रो नानु तस्य भार्या भीखो द्वितीयपुत्र धर्मिपाल तृतीयपुत्र गज चतुर्थो ईसरहमलु जिणदासपुत्र चतुर्थ जगराज्य तस्य भार्या धीताही तस्य तृतीय पुत्रा तस्य भार्या चारिणो द्वितीयपुत्र ममक तृतीय तोतु जिनदासपञ्चमपुत्र सोढू तस्य भार्या दूतस्य भार्या रूपणयही तस्य चतुर्थभार्या कपूरा एतेषां मध्ये साधुमोनन्न इदं श्रीश्रेणिक तास्तु नानीचराणकर्मक्षयिणी तेन (तेषां ज्ञाना वरणकर्मक्षयार्थ) आत्मपठनार्थं कर्मक्षयनिमित्त लिख्यते।

इस अपभ्रंश काव्य के रचयिता पण्डित जयमित्र मालूम होते हैं। क्योंकि इसमें एक जगह सर्ग के अंत में 'इय पढिया सिरी जयमितह हल्लवि (?) विरइये वड्ढमाणकाय' या स्पष्ट अङ्कित है। परन्तु यह जयमित्र कौन हैं, यह पता नहीं लगता। ग्रन्थ में रचयिता की प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। हां, प्रतिकराने वाले की वि० सं० १६०० का एक प्रशस्ति लगी हुई अवश्य। भवन की यह प्रति बहुत अशुद्ध है। इसकी दूसरी शुद्ध प्रति की प्राप्ति से सम्भवत ग्रन्थकर्त्ता जयमित्र का कुछ विशेष हाल मालूम हो सकता है।

(५२) ग्रन्थ नं० ७५/म्क +

जिनसहस्रनामटीका

कर्ता—आचार्य श्रुतसागर

विषय-- स्तोत्रविषयिणी टीका

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च चौड़ाई ७ इञ्च पत्रसंख्या १२७ *

प्रारम्भिक भाग—

ध्यात्वा विद्यानंद समंतभद्रं मुनीन्द्रमर्हन्तम् ।
श्रीमत्सहस्रनाम्नां विवरणमहं वच्मि संसिद्धौ ॥

अथ श्रीमदाशाधरसूरिगृहस्थाचार्यवर्यो जिनयज्ञादिसकलशास्त्रप्रवीणस्तर्कव्याकरणछंदो- ऽलंकारसाहित्यसिद्धांतस्वसमयपरसमयागमनिपुणवुद्धिः संसारपारावारपतनभयभीतो निर्ग्रंथ- लक्षणमोक्षमार्गश्रद्धालुः प्रज्ञापुञ्ज इति विरुदावलिविराजमानो जिनसहस्रनामस्तवनं चिकीर्षुः 'प्रभो भवांगभोगेषु' इत्यादि स्वाभिप्रायसंसूचनपरं श्लोकमिममाह । श्रीविद्यानंदसूरिणां शिष्याः श्रीश्रुतसागरसूरिनामानस्तु तद्विवरणं कुर्वन्तीति "प्रभो भवांगभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः । एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥" हे प्रभो—भुवनैकनाथ, यः कोऽपि तीर्थंकरपरमदेवस्तस्येदं संबोधनम् । एषः—प्रतिपत्तिभूतोऽहं आशाधरमहाकवि । त्वां—भवंतम् । विज्ञापयामि—विज्ञप्तिं करोमि । कथंभूतोऽहं भवांगभोगेषु—संसारशरीर- भोगेषु । निर्विण्णः—निर्वेदं प्राप्त ।

× × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ६३. पंक्ति १)—

विमल —विनष्टो मलः कर्ममलकलंको यस्य स विमलः अथवा विविधा विशिष्टा वा मा लक्ष्मीर्येषां ते (?) विमाः इंद्रादयो देवास्तान् लाति निजपादाक्रांतान् करोति विमलः, अथवा विगता दूरीकृता मा लक्ष्मीर्यैस्ते विमा निर्ग्रंथमुनयस्तान् लाति स्वीकरोति विमलः अथवा विगतं विनष्टमलमुच्चारः प्रस्तावश्च यस्य जन्म स विमल ॥३७॥ अनंतजितः अनंतसंसारं जितवान् अनंतजित् अथवा अनंतं अलोकाकाशं जितवान् केवलज्ञानेन तत्पारं गतवान् अनंतजितः अथवा अनंतविवि ....॥३८॥ महावीर —महांश्चासौ वीरः महावीर श्रेष्ठे महावीरः ॥३९॥ × × ×

+इसकी १५३/ख नं० वाली एक प्रति और है। पर वह बहुत जीर्ण है।
*बीच बीच में कुछ पत्र नहीं है।

वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य और विद्यानन्दी भट्टारक के शिष्य थे। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी—पद्मनन्दी—देवेन्द्रकीर्ति—विद्यानन्दी।

परन्तु विद्यानन्दी भट्टारक के पट्ट पर जान पड़ता है उनकी स्थापना नहीं हुई थी। क्योंकि विद्यानन्दी के बाद की गुरुपरम्परा इस प्रकार मिलती है—विद्यानन्दी—मल्लिभूषण—लक्ष्मीचन्द्र।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द जी के ग्रन्थभाण्डार में पं० आशाधर के महाभिषेक नामक ग्रन्थ की टीका है। उसके अन्त में इस प्रकार लिखा है :—

"श्रीविद्यानंदिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपंकजभ्रमरः।
श्रीश्रुतसागर इति देशमती तिलकष्टीकते स्मेदं॥
इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागरकृता महाभिषेकटीका समाप्ता॥
श्रीरस्तु लेखकपाठकयो॥ शुभं भवतु॥श्री॥

सवत् १५८२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पचम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदेवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं॥ आर्या श्रीविमलश्री चेली भट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यं॥ शुभं भवतु॥ कल्याणं भूयात॥ श्रीरस्तु॥

इससे मालूम होता है कि विद्यानन्दी के पट्ट पर मल्लिषेण की और उनके पट्ट पर लक्ष्मीचन्द्र की स्थापना हुई थी। यशस्तिलकटीका में श्रुतसागर ने मल्लिभूषण को अपना गुरुभ्राता लिखा है। इससे भी मालूम होता है कि विद्यानन्दी के उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए होंगे। यशस्तिलकचन्द्रिका टीका के तीसरे आश्वास के अन्त में लिखा है—

"इति श्रीपद्मनंदिदेवेंद्रकीर्तिविद्यानंदिमल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषणगुरुपरमाभीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनंदिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्त नवनवतिमहामहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलंकारसिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्रचञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्तिलकचंद्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पुमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णन नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता।"

इससे मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देश के पट्ट पर भट्टारक लक्ष्मीचंद्र स्थित थे और मल्लिभूषण का शायद स्वर्गवास हो चुका था।

लक्ष्मीचन्द्र के बाद भी श्रीश्रुतसागर के पट्टाधिकारी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ज्ञान पड़ता है वे कभी सिंहासनासीन हुए ही नहीं।

ये पद्मनंदी, विद्यानंदी, आदि सब गुजरात के ही भट्टारक हुए हैं। परन्तु यह मालूम न हो सका कि गुजरात के किस स्थान की गद्दी को इन्होंने सुशोभित किया था। इडर, सूरत, भाजित्रा आदि कई स्थानों में भट्टारकों के पट्ट रहे हैं। यशस्तिलक की रचना के समय मालवे के पट्ट पर सिंहनंदी भट्टारक थे। इन्हींकी प्रेरणा से श्रुतसागरसूरि ने नित्यमहोद्योत या महाभिषेक की भी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरि के भी अनेक शिष्य रहे होंगे। इसी ग्रन्थमाला के तत्त्वानुशासनादि-संग्रह में इनके एक श्रीचन्द्र नामक शिष्य की रची हुई वैराग्यमणिमाला प्रकाशित हुई है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण, आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी—जो मल्लिभूषण के शिष्य थे—श्रुतसागर को गुरुभावना से स्मरण किया है*। नेमिदत्त ने भी मल्लिभूषण की वही गुरुपरम्परा दी है जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दी का भी उल्लेख किया है।

श्रुतसागर का अभी तक टीकाग्रन्थों के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

उनके बनाये हुए ग्रन्थों का परिचय आगे दिया जाता है —

१ *यशस्तिलकचन्द्रिका*। यह निर्णयसागर प्रेस की 'काव्यमाला' में प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका अपूर्ण है—५वें आश्वास के कुछ अंश की और छठे आश्वास की टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। यह टीका अनेक स्थानों के ग्रन्थभाण्डारों में मिलती है, परन्तु सर्वत्र ही अपूर्ण है।

२ *महाभिषेकटीका*। सुप्रसिद्ध पंडित आशाधर जी के बनाये हुए नित्यमहोद्योत या महाभिषेक नामक ग्रन्थ की यह टीका है। इसका अन्तिम अंश ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसमें मालूम होता है कि उस समय श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे, सूरि या आचार्य नहीं हुए थे।

३ *तत्त्वार्थटीका*। यह श्रुतसागरी टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख के लिखते समय हम इसको प्राप्त नहीं हो सकी। परन्तु यह दुष्प्राप्य नहीं है—इसका भाषानुवाद भी हो चुका है।

४ *तत्त्वत्रयप्रकाशिका*। आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव के अन्तर्गत जो गद्यभाग है,

*आराधनाकथाकोश की प्रशस्ति देखो।

यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्र जी के ग्रंथ-संग्रह में[1] मौजूद है। उसकी प्रशस्ति देखिये :—

आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनंद्याह्वयैः,
संप्रार्थ्य श्रुतसागरं [रां] कृ [कि] तवरं भाष्यं शुभं कारितं।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे.
विद्यानंदिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इति श्रीज्ञानार्णवस्य (?) स्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिना [का] समाप्तः [प्ता] ॥ शुभमस्तु ॥"

५ जिनसहस्रनाम टीका। यह पं० आशाधरकृत जिनसहस्रनाम की विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति सेठ जो के ग्रन्थ-संग्रह में मौजूद है। शब्दबोध और व्युत्पत्ति-बोध के अभिलाषियों के लिये बड़े काम की चीज है। इसकी भी प्रशस्ति देखिये :—

'श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपर पवित्रो, देवेंद्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवंद्य।
विद्यादिनंदिवरसूरिरनल्पबोध, श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मगलं मे ॥२॥

अतः (?) पट्टे भट्टादिकमतघटाघट्टनपटुः,
घटद्धर्मध्यान' स्फुटपरमभट्टारकपदः।
प्रभापुंज संयद्विजितवरवीरस्मरनरः,
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥३॥
आतं (?) वनं सुविदुषां हृदयांबुजानां,
आनन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिहेतोः
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारु
चेतश्चमत्कृतिकृतं श्रुतसागरेण ॥४॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्रयै(?)र्विहित।
जन्मजरामरणहरं निरंतरं तैः शिव लब्धं ॥५॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसंघतिलकं श्रीमूलसंघोऽनघं,
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः।
विद्यानंदिगुरुस्त्विहास्तिगुणवद्गच्छे गिरः सांप्रत,
तच्छिष्यः श्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नंदतु ॥६॥

इतिसूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायामंतकृच्छ्रतविवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥ श्रीविद्यानंदिगुरुभ्यो नमः।"

[1] ग्रन्थ नं० ३।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VII DECEMBER, 1941 No II

Edited by

Prof Hiralal Jaina M A LL.B
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamta Prasad Jaina M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS

Om

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

Vol VII No II	ARRAH (INDIA)	December, 1941

REFERENCES TO THE CAITRAGACCHA IN INSCRIPTIONS AND LITERATURE

By

P K Gode, M A

Curator B O R Institute, Poona

A separate study of the different Jaina Schools or *Gacchas*[1] in an exhaustive manner based on all epigraphic, literary and other sources will prove extremely useful to the students of Jaina

1 Mr C D Dalal s *Cata of Jesalmere MSS*, Baroda 1923 p 98 mentions the following *Gacchas* and *ganas* etc—उपकेशगच्छ, आद्रिकमत काष्ठासङ्घ, कासहृदीयगच्छ, कृष्णर्षीय गच्छ, कोडिय (कोटिक) गण खरतरगच्छ, खरतरविधिपक्ष, खरतरवेगडगच्छ, बृहत्खरतरगच्छ, चन्द्रकुल, चन्द्रगच्छ, चाँद्रकुल, चैत्यवासि, जाल्योधरगच्छ, तपागण, धारापद्रपुरीयगच्छ, देवानन्दगच्छ, पाहिच्छयगच्छ पुष्करगण पूर्णतल्लगच्छ, पूर्णिमापक्षप्रथम शाखा, बृहद्गच्छ, ब्रह्माणगच्छ माथुरान्वय, यशोभद्रसूरिगच्छ, रुद्रपल्लीयगच्छ, वइर (वज्र) शाखा, वसतिमार्ग, विधिपथ, विधिमार्ग, विधिपक्ष, विद्याधरशाखा ।

The *Prasasti Sangraha* by A M Shah Ahmedabad *1937 Part I* (Index p 4) records the following *Gacchas* etc — उपकेशगच्छ, कोरटगच्छ, कृष्णराजर्षिगच्छ, पोसपुरीयगच्छ, चन्द्रकुल, तपोगण, तपगच्छ तपा, पूर्णिमापक्ष, राजगच्छ वृद्धगच्छगण, संडेरगच्छ,—*Part II* (Index p 20) records the following Gacchas etc — आगमगच्छ, अचलगच्छ, उपकेशगच्छ, कामन्द्रगच्छ, कोरंटाशाखागच्छ कोरटगच्छ, काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण, कच्छोलीवालगच्छ, खरतरगच्छ, खरतर, चन्द्रगच्छ चैत्रगच्छ

literature, philosophy and religion as it will give us a skeleton outline of the history of Jaina Schools and the several ācāryas that were associated with them. This is, however, a subject to be tackled by students interested in the history of Jaina literature and religion In the absence of any encyclopaedic work dealing with the various Jaina Schools and their historical development it would be useful to collect and record data pertaining to the several schools separately to facilitate a closer study of them as also to enable us to understand the interrelations of these schools through changing vicissitudes of political and religious history of India.

जीराउलागच्छ, तपागच्छ, तपागण, द्विवंदणिकगच्छ, द्विवेदणीकपत्त, धर्मघोषगच्छ. नागेन्द्रगण, नदितटगच्छ, नाणावालगच्छ, पूर्णिमापत्त. पिप्फलगच्छ. पीपलीयाशाळा, ब्राह्मणगच्छीय, बृहद्गच्छ, बृहद् ब्रह्माणीयागच्छ, भीमपल्लीयपूर्णिमापच, भाडगच्छ, मवागच्छ, मलधारगच्छ, रुद्रपल्लीयगच्छ वृद्धतपागच्छ, विधिपत्तगच्छ, सुधर्मगच्छ. हारीजगच्छ ।

The *Kharatara Gaccha Pattavali Sangraha* by Muni Jinavijaya, Calcutta, 1932 (Index) mentions the following Gacchas etc·—आचार्यगच्छ खरतर शाखा (आचार्यीय गच्छ), आद्यपल्लीय गण, आंचलिकमत, कूर्चपुरगच्छ, कोटिक (गच्छ. गण), कोमल्य गच्छ, चन्द्रगच्छ, चन्द्रकुल, चित्रवाल गच्छ तपा (गण,-गच्छ) दुवलिकापत्त, नागेन्द्र (—गच्छ-कुल) निर्वृत्ति (गच्छ,-कुल), पिप्पलक खरतरगच्छ शाखा, पोपलिया गण (गच्छ), पुनर्नवगच्छ, भावहर्षीय खरतर शाखा, मधुकर खरतरशाखा, रंगविजय खरतरशाखा, राजगच्छ, रुद्रपल्लीय खरतरशाखा, रुद्रेलिया गण, लघु आचार्यीय खरतरशाखा, लघु खरतरगच्छ (गण,-शाखा) लघु भट्टारक खरतरशाखा, सुविहित खरतरगच्छ, सुविहितपत्तगच्छ,

Buhler's *Life of Hemacandra* (Eng. Trans by M Patel) 1936, mentions the following Gacches —चंद्रगच्छ, कोटिकगण, पूर्णचन्द्रगच्छ

A Kannada inscription on a pillar at Patasivaram (Anantapur Dist South India) dated 24th February 1185 mentions पुस्तकगच्छ, देशीगण and मूलसंघ to which belonged पद्मप्रभ मलधारिदेव, disciple of Viranandi-Siddhānta-Chakravartideva (*Vide* p 299 of *Madras Presi Kannnda Inscriptions*, ed by Shamsastri and Lakshminarayan Rao, 1939—Ins No. *278*) *Vide* also p 400 of the above volume where an inscription of A D 1*297* records the gift of some land to विनयचन्द्रदेव disciple of नेमिचन्द्र रावुळ of the पुस्तकगच्छ, देशीगण and मूलसंघ On p 89 again we have inscription No 115 dated A. D 1054 which mentions a Jain teacher belonging to मूलसंघ, देशीगण and पोत्तागगच्छ ।

In the present paper I shall confine myself to one Gaccha viz the *Caitragaccha* of Chitor in Rajputana and shall record a few references to it in inscriptions and literature

(1) The *Prakasti Sangraha*[1] records the following colophon of a MS of the *Meghadūta* in a Bhandar at Pātan —

"सवत् १६०४[2] वर्षे वैशाख सुदि २ भूमवासरे श्रीचैत्रगच्छे भ० श्री० ६ नयकीर्तिसूरि सूरी
श्वर॥ तत् शिष्य मु० विनयकीर्तिलिखित स्ववाचनाय चित्रकूट[3] दुर्गमध्ये॥ शुभमस्तु॥ श्री॥

The above colophon of A D 1547 gives us the names of two Jainas viz (1) *Nayakirti*[4] and (2) *Vinayakirti* associated with the *Caitragaccha* in the Chitor fort The *Pattavali* No 1 of the *Kharatara Gaccha* contains the following dated reference to *Citrakūta* or Chitor —

Death of Jinavallabhasūri at *Citrakūta* in Samvat 1168 (=A D 1112)[5]

---

1 Ed by A M Shah Part II p 102

2 This MS was copied in *April 1547*

3 In the Chitor Stone inscription of *A D* 1287 engraved on a pillar about a mile or so from Chitor in the reign of Samara Simha a grant is made to the temple of Vaidyanātha built on a tank called *Citranga* (mod Chitrang Mori tank at *Citrakuta* (*Vide* H C Ray *Dynastic History of Northern India II* p 1194) In a MS copied in Samvat 1597 (=A D 1541) *i e* six years earlier than the Meghaduta MS of *A D* 1547 we find the mention of *Citrakuta durga*" in the reign of *Rājādhirāja Srī Vanavīra* and the *Gaccha* existing at Chitor is styled as *Aācala Gaccha*"

4 The *Jain Granthāvali* does not mention any author of the name *Nayakirti* Winternitz (*His of Ind Lit* II Calcutta 1933) & S Vidyabhusana (*Ind Logic* 1921) make no reference to any author of this name in their Chapters on Jaina Literature" (pp 424—595) and "Jain Logic" (pp 158—224) respectively

5 Vide *Kharatara Gaccha Pattāvali Samgraha* 1932 p 10

"६ श्री जिनवल्लभसूरि सवत ११६८ चित्रकूटे स्वर्गप्राप्ति —

Other references are as follows —

Page 4—"दुर्गे श्रीचित्रकूटे महारणाश्रीकुंभकर्ण...दि वर्षे etc

If the above date of the death of Jinavallabhasūri at Citrakuṭa is correct it shows the association of the *Kharataragaccha* with Chitor at the beginning of the 12th Century but it does not help us to know the history of the *Caitragaccha* mentioned in *Meghadūta* MS referred to above.

Ksemakirti, pupil of Vijayendu and belonging to Candrakula composed his commentary on the *Bṛhatkalpasūtra* in *Samvat 1332* i e A D. 1276 At the end of his commentary he possibly refers to the genesis of the *Caitragaccha* in the following *verses* :—

" श्रीजैन शासन-नभस्तल-तिग्मरश्मिः
श्री सद्म-चांद्रकुल-पद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतादगंबरडंबरोऽभूत
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्यां ॥७॥

Page 24—"पुनरेकदा श्री जिनदत्तसूरिश्चित्रकूटे देवगृहे वज्रस्तंभस्थितं नाना मंत्राम्नायमयंपुस्तकं मंत्रबलेन प्रकटीकृत्य गृहीतवान्"

Page 32—"श्री जिनभद्रसूरिः··· .....अनयारीत्या एकदा चित्रकूटे समागताः" ।

Jinabhadra died in Samvat 1514 (A. D. 1458)

Page 46—"संवत ११६७ वर्षे आपाढवदि ६ दिने पट्टे स्थापना श्री देवभद्रसूरिणा कृता श्री चित्रकूटे etc "

Page 53—"ततः श्री जिनेश्वरसूरिभिश्चित्रकूटे चिंतामणिपार्श्वनाथप्रासादे भांडागारे पुस्तकं निर्वास्य प्रदत्तं । क्रमेण आगतं पत्तने । महोत्सवेन आनीतं । श्री कुमारपालाद्या. सप्तशतमनुष्याः सश्रीकाः अन्येपि बहवो जनाः शालायां स्थिता. सति । दृष्टं पुस्तकं हेमाचार्येण etc "

Page 55—"श्री जिनवर्धनसूरयः । तैः श्रीजेसलमेरौ पार्श्वनाथचैत्यमध्ये गंभारकात् क्षेत्रपालो निर्वासित । तेन कुपितेन प्रतिज्ञा कृता अहं त्वां गच्छान्निर्वासयामि । रात्रौ स्त्रीरूपेण समागच्छति ततश्चित्रकूटे गताः etc "

श्रीमच्चैत्रपुरैकमडनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चित्रपुरप्रबोधतरणेः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि [1]।
तत्र श्री भुवनेंद्रसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर
ज्योति सद्गुण-रत्न रोहणगिरि कालक्रमेणाभवत्॥८॥

The above *verses* tell us that one Dhaneśvaraguru was the originator or founder of the *Caitragaccha* (तस्मात् श्रीचैत्रगच्छोऽजनि) This guru is styled as "चित्रपुरप्रबोधतरणे" i e, 'the Sun for the awakening of Citrapura obviously on account of his spiritual

1 This *Caitragaccha* referred to in A D 1276 by Kṣemakīrti is not found in the following 84 Gacchas of the Jainas which originated with the pupils of a Jaina high priest named *Udyotana* who flourished about the *middle of the 10th Century*

These *Eighty four Gacchas* as given on pp 78—79 of Buhler's *The Indian Sect of the Jainas* edited by J Burgess London 1903 are —

(1) Vaḍa (2) Osvāla (3) Aṅcala (4) Jiravalī (5) Khaḍatara or Kharatara 6) Lonkā or Ricmati (7) Tapā (8) Gaṅgeśvara (9) Korantav la (10) Ānanda pura (11) Bharavatī (12) Udhavīyā (13) Gudāva (14) Dek up or Dekāvā (15) Bhinm lā, (16) Mahuḍīyā (17) Gacchapāla (18) Goṣav la (19) Magatraga gaḍā (20) Vrhmāṇīy (21) Taṭira (22) Vikaḍiya (23) Munjhīya, (24) *Citroḍā* (25) Sīcorā (26) Jacanḍīya (27) Sidhālavā (28) Mīyaṇṇīy (29) Āgamīyā, (30) Maladhārī (31) Bhāvarīyā (32) Pallivāla (33) Nagadīge vara (34) Dharmagho a (35) Nagapura (36) Ucatav la (37) Nanṇav la (38) Saḍer, (39) Manḍovara (40) Sūraṇī (41) Khambh vatī (42) Paecamḍa (43) Sop riya (44) M naliya (45) Kocchīpan (46) J gamn (47) Laparavala (48) Vosarad (49) Durvandanīy (50) Citrav la (51) Vegaḍa, (52) V pad (53) Vijah ra. Vijhari (54) Kāupurī (55) Kacala (56) Hamdalīya (57) Mahukara, (58) Putalīya, (59) Kamnariseya 60) Revardīya (61) Dhandhuka (62) Thambhaṇipaṇa (63) Pamcīvāla (64) Palanpura (65) Gamdhariya (66) Veliya, (67) Sidhpunamīy (68 Nagarakoṭīya (69) Hisora (70) Bhataner (71) Jaṇahar (72) Jag yana (73) Bhīmasena (74) Takaḍīy (75) Kamboja, (76) Senata. (77) Vagher (78) Vaheḍīya (79) Siddhapura, (80) Ghogharī (81) N gamij (82) Punamīya (83) Varhadīya (84) Namīl Some of these names are common to Col Miles's list (*Tr R A S* vol III pp 358 f 363 365 370) and H C Brigg's list—*Cities of Gujarashtra* p 339 I wonder if Gaccha No 24 (*Citroḍā*) in the above list has any connection with the *Caitragaccha* mentioned by Kṣemakīrti !

knowledge. *Citrapura*[1] mentioned by Ksemakirti appears to be identical with modern *Chitor*. If this identification is correct it is but in the fitness of things that such an illustrious Jainācārya should be the founder of the *Caitragaccha* the existence of which in the latter part of the 13th century and its continuity to the middle of the 16th century is proved by inscriptional and literary sources.

The name Dhaneśvara Sūri is very commonly met with in the literature of the Jainas It is, therefore, necessary to identify him if possible and for this purpose we shall have to note all the

1 Chitor is mentioned in historical references as चितौड, चित्रकूट, चैत्रकूट, (*Vide* Index to *Kharatara Gaccha Pattavali Sangraha*, p 3) though I have not come across the name चित्रपुर as such for Chitor used in documents or elsewhere The *Praśasti Samgraha* by A M Shah records the following names of Chitor.—

Part II, P. *16* (Pr *No 64*)—" चित्रकूटमहानगरे" in a MS dated *Samvat*
1510 = *A D 1454*—P 46 (Pr 195) " चित्रकूटे पुरे " „ „ „ „
1547 = *A D 1491*—P 82 (Pr 285) " चित्रकूट " „ „ „ „
1573 = *A. D 1517*—P 97 (Pr 352) " चित्रकूट " „ „ „ „
1597 = *A D 1541*—P 94 (Pr 216) ' चित्रकूट महादुर्गे " „ „ ,
1553 = *A D 1497*—P. 93 (Pr 332) " चित्रकोट " „ „ „ „
1592 = *A D 1536*—P 113 (Pr 424) " चित्रकोट " „ „ „ „1616
= *A, D 1560*—P 96 (Pr 347) " चित्रकूट दुर्गे " „ „ „ „
1597 = *A D 1541*—P 102 (Pr 376) " चित्रांगद दुर्गे " „ „ „
1604 = *A D 1548*

Part I, page 94 (Pr *161*)—A MS. of " निघंटुशेष " copied in Samvat 1280 = *A D 1224* It contains an endorsement dated *Samvat* 1343 = *A D. 1297* in which it is stated that one खेतसिंह resident of चित्रकूट purchased it—The *Patan MSS Catalogue* Vol I (Baroda, 1937) contains the following references to Chitor —Page 34—MS dated *Samvat* 1185 = *A D 1129* mentions हरिभद्रसूरि as resident of " चित्रकूटाचल " (कृतिः . .चित्रकूटाचलनिवासिनः श्रीहरिभद्रसूरे)—P 66 ' चित्रकूटमहादुर्गे " mentioned in a MS dated *Samvat* 1314 = *A. D* 1258,—P 156 (चित्तउड=चित्रकूट).

namesakes[1] of Dhaneśvara in dated sources, who flourished before A D 1276 the date of composition of Kṣemakīrti s commentary on the *Bṛhatkalpasūtra*

The *Jesalmere Inscriptions* edited by P C Nahar contain the following references to the *Caitra Gaccha*

Inscription Number	Saṃvat year	A D	Sūris mentioned in the Inscription
2229	1327	1271	Kanakaprabhasūri (in the line of Ajitasiṃha Sūri "श्री चैत्र गच्छे"
2416	1339	1283	Dharmadeva Sūri "श्री चैत्रगच्छीय"
2249	1381	1325	Dharmadeva Sūri 'श्री चैत्रगच्छे"
2255	1388	1332	Āmadeva Sūri "चैत्रगच्छे'
2320	150३	1447	Malacandra Sūri "चित्रावलगच्छ"

1 A MS of *yogaś sāstravṛtti* was copied for Dhaneśvara Sūri at Sri Pattana in *Samvat* 1255 (= A D 1199) *Vide Praśasti Saṃgraha* Part I p 82 (Pr 130)—संवत् १२५५ वर्षे मार्ग शुदि १ रवौ ।। अद्येह श्री पत्तन श्रीदेवाचार्यगसत्या श्रीधनेश्वर-सूरीणा हेतोर्द्वाशसहस्रयोगशास्त्रवृत्ति परमश्रावकठक्कुरवर्धमानेन सुदर्शनग्रामनास्त्य पारि० बीशलपार्श्वान लिखापिता etc., *Part II* p 93—In a MS dated *Samvat* 1592 (= A D 1536) the *Sūris* of the नाणानान गच्छ *viz* शांतिसूरि, सिद्धसेणसूरि, धनसरसूरि etc. are mentioned This Dhaneśvara sūri has no connection with our Dhaneśvara on account of the difference of chronology and the difference of the Gacchas

One Dhaneśvarasūri of the नाणकीय गच्छ is mentioned in the Jesalmere inscript on No 2230 deted *Samvat* 1329 (= A D 1273) but he is obviously a different person as he does not belong to the *Caitra Gaccha* (*Vide* p 61 of *Jesalmere Inscriptions* III by P C Nahar Calcutta 1929) Two more namesakes of this Sūri are found in the same Gaccha in inscriptions dated Saṃvat 1476 (= A D 1420) and Saṃvat 1527 (= A D 1471) *vide* Inscription Nos 2291 and 2348 in the above volume of *Jesalmere Inscriptions* It would appear that Dhaneśvarasūri of the *Nāṇakīya Gaccha* living in A D 1273 was a contemporary of Kṣema Kīrti who composed his commentary on the *Bṛhat Kalpasūtra* in A D 1276 *i e* three years after the Jesalmere inscription of A D 1273

While dealing with Jain influence under the Paramāra Kings Dr D C Gongoly (*Paramāra Dynasty* 1933 p 250) states that "Dhaneśvara lived in Malwa during the reign of Muñja " This Dhaneśvara belonged to *Rāja Gaccha* (*Vide* p iii of *Peterson s Fourth Report*) The last known date of Muñja or Vākpati II is A D 993-4 (*Vide* p 80 of Parm Dynasty)

2 Mr P C Nahar in his Index to *Jesalmere Inscriptions* III p 218 identifies चैत्रगच्छ with चित्रावलगच्छ as he makes the following entry —"चैत्र [चित्रावल] गच्छ"

The Jesalmere inscriptions noted in the above statement bear further testimony to the continuity of the *Caitra Gaccha* between A D. 1271 and A D 1447. We have already quoted the colophon of a *Meghadūta* MS of A.D. 1547 which carries further this continuity exactly by 100 years. With a view to have a thorough knowledge of the several sūris belonging to the *Caitra Gaccha* and their contribution to Jain and non-Jain literature and philosophy it is necessary to record the names of these sūris as found in references to them in the entire Jain literature published and unpublished but this is a task which must be left to scholars who have specialized in the history of Jain religion and philosophy I have, therefore, great pleasure in recording below the information about the *Caitra Gaccha* kindly sent to me by my friend Prof A. N. Upadhye of Kolhapur :—

The *Caitra Gaccha* is also called *Citra* or *Citravāla Gaccha.* It is not so popular as *Kharatara* or *Tapa Gaccha* From a book called "*Jaina Dhātu-pratimā Lekha Saṁgraha*" by Buddhisāgara (Bombay, Saṁvat 1973) the following facts may be noted .—

Samvat year	A D	Reference to Caitra Gaccha (= C. G)
1333	1277	Devānanda Sūri of C G installed an image of Śāntinātha
1339	1283	Vardhamāna Sūri of C G installed an image found at Chaveli.
1388	1332	Hari Candra Sūri of C. G installed an image of Śāntinātha, now at Kolwad.
1396	1340	Mānadeva Sūri of C. G installed an image of Pārśvanātha now at Ahmedabad.
1400	1344	Rājdeva Sūri of C. G. installed an image now at Ahmedabad

Saṁvat year	A D	Reference to Caitra Gaccha (= C G)
1405	1349	Dharmadeva Sūri of C. G installed an image of Ādinatha
1417	1361	Mānadeva Sūri of C G installed an image of Ādinātha
1474	1418	Malaya Candra Sūri, the disciple of Pārśvacan dra of the C. G installed an image af Ādi-nītha now at Ahmedabad
1451	1395	Pāsadeva Sūri of C G installed an image now at Unjhā
1457	1401	Pāsadeva Sūri of C G installed an image r ow at Ahmedabad
1484	1428	Jinadatta Sūri of C. G installed a plate of 24 Jinas, now at Visanagar
1507	1451	Munitilaka Sūri of C G installed an image of Santināthा
1507	1451	Laksmideva of C. G installed an image of Vimala now at Ahmedabad
1512	1456	Munitilaka of C G installed an image of Śitalanātha, now at Ahmedabad
1512	1456	Ratnadeva Sūri, the disciple of Jinadeva Sūri, belonging to the line of Gunadeva of C. G installed an image of Vimlanātha, now at Visanagara
1519	1463	Śri Sūri of C G installed an image of Sambhava nātha, now at Ahmedabad

Samvat year	A. D.	Reference to Caitra Gaccha (= C. G)
1520	1464	Laksmīsāgara, the pupil of Malayacandra of C G installed an image of Śantināthа now at Kosa
1521	1465	Laksmisāgara of C. G installed an image of Pārśvanātha
1522	1466	Laksmīsāgara Sūri, the pupil of Malaya Candra of C G installed an image of Vāsūpūjya which is found at Dabhoi
1527	1471	Jnānadeva Sūri of C G installed an image of Nemināthа at Dholera
1537	1481	Cārucandra Sūri, the pupil of Somakirti of C. G installed an image of Dharmanātha
1547	1491	Laksmīsāgara Sūri of C. G. installed an image of Śryāmsa, now at Ahmedabad.
1554	1498	Somadeva Sūri of C. G installed an image of Nemināthā
1559	1503	Ratnadeva Sūri, of the line of Gunadeva Sūri of C G. installed an image now at Uñjhā.
1579	1523	Pāsadeva Sūri, a pupil of Viradeva Sūri of C G installed an image of Sambhavanātha

If we now sum up the data recorded above on the antiquity of the

Caitra Gaccha it provides us the following chronological conspectus based on epigraphic and literary sources —

Chronology	Source
A D 1271—1447	*Jesalmere Inscriptions*
„ 1277—1523	Jaina *Dhātu Pratimā Lekhasamgraha*
1276	Kṣemakirti's Commentary on *Bṛhatkalpa sūtra*
„ 1547	Pātan MS of *Meghadūta*

The dates recorded in the above conspectus show an unbroken continuity of the *Caitra Gaccha* for about 276 years between the years *A D 1271 and 1547* We have also seen that various Jain ācāryas were associated with the *Caitra Gaccha* during this period and it should be a matter for investigation how and to what extent they advanced the cause of Jain religion, literature and philosophy

The text of the earliest inscription[1] of A D 1271 containing the reference to the *Caitra Gaccha* reads as follows —

"संवत् १३२७ वर्ष फागुण सुदि १२ हरिश्चंद्रपुत्र जठामीह भगिणि सोहिणि आत्म श्रेयोर्थ निरकारित h प्रतिष्ठित श्री चैत्रगच्छे श्री अजितसिंहसूरिसंताने श्रीकनकप्रभसूरिभि "

This text shows that *Kanakaprabhasūri* of the *Caitra Gaccha* in the line of *Ajitasimhasūri* was living in A D 1271

It is now necessary for us to take the history of the *Caitra Gaccha* backward from A D 1271 and for this purpose the Chirava Inscription[2] of the time of Samarasimha of Mewar of *Vikrama*

1 P C Nahar *Jesalmere Inscriptions* p 60 Inscrip No 2229

2 Edited by R R Haldar in *Epi Indica XXII* October 1934) published in 1938 page 285 ff This inscription was first edited in *Vienna Oriental Journal XXI* pp 155ff but it is re edited historically by Mr Haldar Exact date of the inscription is Friday 13th October 1273

Samvat 1330 (=A.D. 1273) is very much useful as it refers to the Jainācāryas of the *Caitra Gaccha* in the following verses :—[1]

"श्री चैत्रगच्छगगने तारकबुधकविकलावतां निलये ।

श्रीभद्रेश्वरसूरिर्गुरुरुदगान्निष्कवर्णांग ॥४९॥

श्री देवभद्रसूरिस्तदनु श्रीसिद्धसेनसूरिरिथ ।

अजनि जिनेश्वरसूरिस्तच्छिष्यो विजयसिंहसूरिश्च ॥४६॥

श्री भुवनचंद्रसूरिस्तत्पट्टे भृद्भूतदंभमलः ।

श्री रत्नप्रभसूरिस्तस्य विनेयोस्ति मुनिरत्नं ॥४७॥

श्रीमद्विश्वलदेव श्रीतेज.सिंहराजकृतपूजः ।

स इमां प्रशस्तिमकरोदिह रुचिरां चित्रकूटस्थः ॥४८॥

शिष्योमुष्यालिख (न्म) रत्यो वैदूष्येण विभूषितः ।

पार्श्वचन्द्र इमां विद्वद्गणर्यैवर्णालिशालिनी ॥४९॥

पद्मसिंहसुतः केलिसिंहो मूमुत्कार च ।

स्थानेत्र देल्हणः शिल्पी कर्म्मांत [रम] कारयत् ॥५०॥

यावद्विश्वसरस्यस्मिन्नस्ति रामश्रि पुष्करं ।

राजहंसयुतं तावत् प्रशस्तिर्नंदतादियं ॥५१॥

संवत् १३३० वर्षे कार्त्तिकशुदि प्रतिपदि शु [क्रे] [॥]"

---

1 Mr Haldar gives us the following English summary of these verses — Page 286—" Then follows the description of the Jain *Āchāryas*, who flourished at that place (Chitor) Verse 44 says that there was at the head of the Paśupata Sect Śivārāśi who possessed many good qualities and worshipped the God Ekalinga After him *Bhadreśvarasūri* of the *Caitra Gaccha, Devabhadra sūri, Siddhasenasūri, Jineśvarasūri*, his pupil *Vijayasimhasūri, Bhuvanacandrasūri*, his pupil *Ratnaprabhasūri*, then living, followed in succession (Vv 45—47) The last named was highly honoured by *Viśvaladeva* and *Tejahsimha* and composed this *praśasti* at Chitor (V 48) The name of the writer of this record is given as *Pārśvacandra*, who was the pupil of *Ratnaprabhasūri*, while that of the engraver *Kelisimha* son of *Padmasimha* *Delhaṇa* was the artisan who did other things connected with it (Vv 49-50)."

The line of ācāryas as we find recorded in A D 1273 in the above *praśasti* composed by *Ratnaprabhasūri* and recorded by his pupil *Pārśva Candra* is as follows —

(१) भद्रेश्वरसूरि (of चैत्रगच्छ)
|
(२) देवभद्रसूरि
|
(३) सिद्धसेनसूरि
|
(४) जिनेश्वरसूरि
|
(५) विजयसिंहसूरि
|
(६) भुवनचंद्रसूरि
|
(७) रत्नप्रभसूरि }
| } living in A D 1273
(८) पार्श्वचंद्र }

This line of *Bhadreśvarasūri* in the *Caitra Gaccha* existing in A D 1273 and represented by *Ratnaprabha* and his pupil *Pārśvacandra* appears to be different from the line of *Ajitasiṁha* of the same *Gaccha* mentioned in the inscription of A D 1271 and represented by *Kanakaprabhasūri* then living Evidently *Ratnaprabha* and *Kanakaprabha* were contemporary ācāryas of the same *Caitra Gaccha*

The line of *Bhadreśvarasūri* of the *Caitra Gaccha* mentioned by *Ratnaprabha* in A D 1273 as having 6 ācāryas preceding him enables us to take the antiquity of the *Caitra Gaccha* to about 1100 A D if not a little earlier presuming that a generation of the teacher and his pupil represents about 25 years and presuming also that *Ratnaprabha*'s list of his predecessors is accurately recorded We must however, search for definite historic evidence for studying the details of the lives of the 6 predecessors of *Ratnaprabha* (living in 1273 A D)

Ratnaprabha states that the Kings *Viśaladeva* and *Tejaḥsiṁha* honoured him (v 48 of the *praśasti*) Tejasiṁha belonged to the ruling line of the *Guhilaputras* of Medapata or Mewar, a genealogical

table of which has been recorded by Dr. H C. Ray[1]. As Tejasimha's dates are c. 1260—1267 A D and as he honoured Ratnaprabhasūri of the *Caitra Gaccha* we can presume that Ratnaprabha's influence at the Mewar Court was sustained say between A. D. 1260 and 1273. This conclusion is supported by a further inscription[2] found near Chitor which is dated *Samvat* 1322 i.e, A. D 1265 and its *praśasti* was composed by Ratnaprabha Sūri of the *Caitra Gaccha* Another inscription[3] mentioning Hemacandra Sūri and others of the *Caitra Gaccha* is the *Chitor Stone inscription* dated Samvat 1324 *i e A D 1267.* It is incised on a stone fixed on an arch of the bridge on the Gambhiri river near Chitor This stone is said to have originally belonged to the temple of Mahāvira at Talahati at the foot of the Chitrakūṭa hill

Though the evidence of literature and inscriptions recorded in this short inquiry about the antiquity of the *Caitragaccha* takes us safely to about A D 1100, the Jain tradition[4] as based on the Paṭṭāvalis claims the existence of a Śakhā of Mūla Sangha (Digambar School) at Chitor right from 515 B C. upto A D 1881 The Paṭṭāvalis no doubt provide good data for historical verification but they need to be linked up with epigraphic and other objective evidence for a reliable reconstruction of Jain chronology and history.

1 *Dynastic History*, II, pp 1206—08—I quote below the dates given by Dr Ray for the last four rulers of the Medapāta line of the Guhila putras —

Jaitrasimha (c 1213—1256 A D)

Tejasimha (c 1260—1267 A D)

Samarasimha (c 1273—1301 A D)

Ratnasimha (c 130. -1303 A D)

2 *Ibid p 1191* —This epigraph is now in the Victoria Hall Udaipur. It was noticed in *Rajputana Museum Report*, 1927, p 3. It was found in the village of Ghagsa near Chitor It describes the family who built the well where the inscription was originally found

3 *Ibid*, *Vide Epi Ind XX* Appendix p 81, No 570.

4 Vide Appendix E (chronological List of the Gaccha-heads) to the *Epitome of Jainism* by Puran Chand Nahar, Calcutta 1917, p lxxix—Mr Nahar states that the *Nandi Sangha* (Chitor Sākhā) was founded by Meghanandin, a disciple of Guptigupta or Arhadbali and is also known as *Sarasvati Gaccha*, and Balātkāra Gaṇa The list of Gaccha heads recorded by Mr Nahar is based upon the Paṭṭāvali as published in the *Jain Sidhanta Bhāshkara* and by Dr Hoernle in the *Indian Antiquary* (Vol XX, pp 341—361 and Vol. XXI pp 57—84) The pontiffs of this Gaccha, adds Mr Nahar, generally use the four Surnames viz, *Nandin Candra, Kīrti*, and *Bhūṣaṇa* The table begins with Gautama the first Gaṇadhara or disciple of Mahāvira, who is known as the founder of the Mūlasangha by the Digambaris

JAINA TRADITIONS IN RAJAVALĪ KATHA

By S Srikantha Sāstri, M A

Continued from Vol VII No I Page 47

In the days of the Ballālas from S 1112 to 1220 several Dannāyakas ruled as governors Kēsava was the mahā pradhāna of Ballāla In Nilagiri Mādhava and his descendents at Beṭṭada Kōṭe ruled Mādhava Bhīma Mādhava and others built the Vāsudēva temple Chandanna ruled in Hedatale Gōvinda Śrīpati, Dēvanna and Venkatapati ruled in the north Beṭṭada Kōte Govinda (Manchanna) was attacked by Nilagiri Sōma and committed suicide by leaping over a precipice Kūchi Rāja of Hire Bēgūr became a Vaishnava These Dannāyakas ruled up to 1250 Meanwhile Lakshmana Dēva Rāya was ruling 257]

In Vidyānagari Kṛshna Rāya ruled Among the Kirātas were Pratāpa Rāya Hamsa Pratāpa Rudra Immaḍi Jagadēva Rāmadēva Kampa Sāluva Kampila Rāya and Rāmachandra ruled for 200 years

Meanwhile Bhartṛhari a Mīmāmsaka was ruling and the ryots refused to pay more than ⅙th of the produce as tax Therefore he became detached from the world and composed Bhartṛhari Sataka In his family was born Rājēndra whose son was Sārangadhara [260]

In Kummata the chief of Bēḍas Kampila had a son Rāma Rāma s step-mother Ratnāji fell in love with him and tried to kill him but he escaped [261]

Members of the Ballāla family went to the north and stayed at Vijayanagara Some became the chiefs of Karugahalli Ankuthūra Talakād and Mūgur Chandra Vamśa rulers stopped at Kalule and Hullinahalli

Vira Sūra of Kārugahali renamed Vāsantikadēvi as Chāmuṇḍi built the city Mahishāpura He was succeeded by his son in-law. They are Toreyas They claim that their ancestor, when there was a deluge saved himself by holding on to a gourd and he was called Mṛtyunjaya. To him and his wife Śakti were born all the gods etc His descendants came to the south to Nidugana Koṭe, Singapaṭṭana and Jānana Kōte. They worshipped Māramma

After the death of Vira Ballāḷa, the Delhi Padusāh destroyed many Jaina Basadis and built mosques In Chandra drōṇa Parvata, Chaityas were destroyed, the Fakirs were placed, and two maṭhas Nirvāna matha and Phalanāramatha were made for Hindus, and in Ś. 1305 Jaya grants of taxes and land were given The Delhi Pādusāh and his wife maintained themselves by sewing, and having taught his Fakirs the mantras of Atharva Veda called them Khādir lingas They wore the linga, vibhūti etc on one leg and nāma, etc. on the other [272.

Harihara Rāya tried to reconcile Śaivas and Vaishṇavas. In the time of Vira Bukka Rāya Vedāntāchārya and Appayya Dikshita had disputes 273 - 274]

Vira Bukka made, Tirumala Tatayya and other Śri Vaishnavas to agree to a compact with the Jainas. In *Ś.* 1290 Kilaka Bhadrapada *Śu.* 10 Thursday, when there was a dispute between Jainas and Vaishnavas, the Bhavyas of Ānegendi, Penugoṇḍa, Kalleda Pattaṇa etc., complained to Bukka about the Bhaktas and Bukka ordered that there is no difference between the two Darśanas in Kovil Tirumalai, Perumāl Kōvil, Tirunārāyanapuram and other places. [277]

Krshnadēva Rāya the son of Vijayanagra Sōmaśēkhara Rāya and a Kuruba girl Dipada Malli, was ruling a great kingdom. Among his 8 sāmantas were Kumāra Harihara, son of Dēva Rāya; Dēvaṇṇa Rāya, Bhujanga Rāya, who are sent to govern the south. They came to Terakanāmbi

In Saka 600, Kudaganūr was named Terakanambi by a Kshatriya Lambakarṇa who ruled for 50 years. Then Gonde Chōla for 20

years Pārthiva Rāya for 40 years his son Narasinga, his son Ahōbala Achyuta, his adopted son Pārthiva Rāya Pratāpa Rūdra, Chāma Deva Rāya, Bukka Mālava Rāya, Prabhu Dēva, Tamma Nārasanna, Vira Narasimha ruled Then Chikka Rāya Mādhava, Rāya of Śivana Samudra Venkaṭapati Chandra giri Rāya Govinda Rāya etc rued for 620 years upto S 1310

I

Triyambaka Rāya established the God Triyambaka and built Triyambaka Pura After him, among the three who came from Ānegondi, Devanna Rāya settled at Ummattur His grandson was Bhujanga Rāya Harihara Rāya was at Terakanāmbi in Kudugu Nādu His son Vira Rāya became the ruler Tagaḍur in Hiriya Nāḍu He gave Maleyur to Vijaya of Kanakagiri [280]

There was a famine in Vijayanagara and two princes came to the south and obtained from the ruler of Terakaṇāmbi a stone oil mill and some land Near the temple of Para Vāsudēva Rāma rāya built a fort Ummattur Dēvanna Rāya, Tagadūr Prabhu Rāya, Somaśēkhara of Soma Samudra, Patta Rāya of Beṭṭada Pura, Nanja Rāya of Penyapaṭṭana, Chengalva Rāya of Kallahaḷḷi Rāghava Mādhava etc., were ruling when the Kārugahaḷḷi chiefs were governing Mysore and 30 villages Then Krishna Rāya who came from Vijayanagara married a potter woman of Mysore and ruled five villages His daughter was a servant in the palace of the Toreyas, and she was about to be forcibly married to the Toreya Two princes of Yādava Ballaḷa family of Vijayanagara came and having killed all the enemies Rāja Wodeyar married her But the Nāyaka killed Rāja Wodeyar whose wife being pregnant escaped Abhi chandra of Sōmavamsa was ruling Hadināḍu and six other districts His guru was Bhānu kirti In Kuntūr maṭha there was one Nan jayya who with the help of his servant killed Abhichandra and Bhanuchandra and ruled as Nanjarāja wodeya After him his servant Mādarasa ruled and was killed by demons He became an evil spirit and his worshippers the Uppaligas of Saragūr built Mādēśvara temple In Mūgur Anantanātha Jinālaya was destroyed and Dēsi linga established The yakshi image was thrown into a dust heap and was named Tippā Dēvi

Among the Tuḷuva kings Narasinga, Tamma, Narasanna, Vira Narasimha, Kṛshna and Achyuta were ruling. Then Tirumala, Sadāśiva and Rāma Rājayya ruled and Rāma Rāja died on in Ś 1485, Raktākshi, Māgha Śu 1. After him Tirumala ruled from Māgha Śu 5, for 7 years 5 months and 12 days there from Āngirasa Ashādha Ba 12 Śri Ranga ruled and built Śriranga Pattna. [285].

Viranagere Māra Nāyaka was killing many. His minister Santayya took the pregnant queen who belonged to the Bettadapura family and protected her at Mallahaḷḷi Her son was Rāja Woḍeyar who got the title because of the protection of a Jangama priest Rāja Wodeyar killed the followers of Māra Nāyaka with the assistance of Haḷe-Paikers and became the ruler His minister was Dodda Śantayya [286]

In the south Rāghava Rāya, Tamma, Ahōbala Vira, Prabhu, Jagadēka, Vijaya, Bhujanga and Gōpāla ruled as Pāleyagārs. [288].

Śriranga Rāya from Āngirasa remained at Sriranga Paṭṭana Venkatapati Rāya and Chikka Rāya ruled for 30 years Sri Ramedēva Rāya was ruling at Ānegondi from Ānanda Aśvija Ba 3. Śri Ranga Rāya sent for the Mysore Rāja Gouḍa, (Rāja Wodeyar) who refused to face him. His minister Śāntayya obtained a loan from Śri Rangarāya and was rewarded with the grant of some villages. Sāntayya was well versed in *Khagendramaṇi darpaṇa.*

Chaturmukha Śānti converted Nambiṛa Nanjappa, who composed Ādiśvara Stotra as pancha ratnas [370]

Rāja Nrpa saized Śri Rangapattana and the princes of that place were placed in Mysore and given 23 villages [371].

In Mūdu Bidire Bhāirasa Wodeya was ruling. Ratnākarāchārya for a time became a Lingāyat and wrote Basava Purāṇa and other Vira Śaiva works [374]. In Kallahaḷḷi Vijaya Bhūpāla's minister had two sons Nanjundarasa and Mangarasa. Nanjuṇḍa after hearing the legend of Kummaṭa Rāma Nātha, became a Vira śaiva and wrote Kumāra Rāma Sāngatya [375-6]

Brahma Suri was the managing agent for Ummattur chiefs Visalaksha Pandita of the village Hangala became the minister of Chikkadeva Raya Chikkadeva Raya built the temple of Para Vasudeva near Gundlu Pet over the *Nisidige* of his father He held an enquiry into the claims of the various sects In 1684 Raktakshi, the Jangamas rose in rebellion and were suppressed by Chikkadeva The Vira Śaivas murdered Visalaksha Pandita Tirumalayyangar became the minister Rajanrpa was the disciple of Alagiya Singaracharya Shadakshari wrote Rajaśekhara Kavya and became famous Tirumalayyangar began to convert many to Sri Vaishnavism

Some of the Jaina Panditas like Chikkayya and Bomarasa became *namadharis* Jaina grants to Kanakagiri and Maleyur were confiscated When Chikka deva went on northern conquest he appointed Dodda Devayya to govern the city He destroyed 1700 basadis but the king stopped the persecution and imprisoned him Chikkadeva died in Tarana

Doddа Krshna Raja s queen was seized by an evil spirit When he went to Śravana Belagola the spirit left her and therefore he gave grants to Gomatesvara [396]

Kuna Pandya of Mathura was married to Padmavati a chola princess and they became Vira Śaivas Abhi Rama of Mathura was also a Vira Saiva [400 1]

Kalale Nanja Raja son of Vira Raja built the outer portions of Nanjangud temple and wrote many Viraśaiva Puranas

Chikka Deva Raya held an enquiry into the claims of superiority of each caste—Panchala Kumbhakara, Vyadha Kuruba Devanga Okkaliga, Oilman Golla Uppariga Kelasi Washerman Odda Domba Holeya Madiga [413 20]

Stories about Nazar Jung of Golkonda Fatah Khan of Kolar Dalavoy Katti Gopala of Tiruchinapalli Raja of Coorg, Kanakagiri and Pujyapada, etc., 425 435]

History of Mysore Yadu Vamśa a branch of Harivamśa. From Vijayanagara three princes came Vijaya Rāja married a potter woman in Mysore. Timma Rāja stopped in a village and the rest in Gobbalikere Deva Rāja married the daughter of the chief of Hullahalli, Krshnājammanni Padmāvati on the hill who was the family deity of the Ballālas was named Chāmundeśvari The Mahābaleśvara temple on the hill was established by the Kūrugahaḷḷi chiefs [444—448] Six-fingered Chāmarāja married Padmamani daughter of Dēva Rāja of Bilikere. His son Chāma Rāja married Alakājamma, the daughter of Kōte Chief. Their sons were Timma. Kishṇa and Bōḷa Chema. Krshna ruled at Kembal; Timma protected the chief of Sindhuvaḷḷa and at Nanjangūd obtained the title *Birudantembara gan·la* He defeated Ummattur chiefs.

Rāja Nrpa and Beṭṭada Rāja, sons of Chāmarasa. Rāja Nrpa ruled over 23 villages and married eight princesses of Beṭṭadapura, Nullahalli, Kalale, Mūgūr, Belugali etc., Chāma Rāja took Chennapattana, Maddur. Nāgamangala from Jagadēva Rayā. Kanthirava Narasa [472]. Yalendūr Vanne Rāja who was at first a Jaina became a Viraśaiva and married Amrtammaṇṇi the daughter of an Ārādhya Their son was Chikka Dēva Rāja whose classmates were Tirumalārya son of Singarārya, Shaḍakshari, and Viśālāksha Pandita son of Bommarasa Chikka Dēva became Kōvida Śikhāmani, Tirumalācharya—Vidyā Viśārada, Viśālāksha Pandita—Sāhitya Bhārati, and Shadakshari—Kavi Śēkhara [475].

History of Chikka Dēva Raya and in Ś 1630 Bahudhanya, 1700 Basadis were destroyed by Vira Śaivas. Praise of Mummuḍi Krshna [504—510]

History of Jainism Choḷa, Ballala, Daṇāyaka, Sāḷa, Kenga, Prabala, Jala Sāvanta etc, remained as Jainas Some of the Jaina Brāhmins divided themselves as Upādhyāya Panḍita, Archaka, Indra, Sthānika. Some Jaina Kshatriyas became known as Chaturthas and Panchamas. Bhōgaras, Savudas. Pādiya, etc., became gurus (?) of Panchamas. Jaina bhaṇṭas below the Ghats In northern India Prajñas, Śravakas, Jinabhaktas. [518]. Principles of Jainism [527].

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M R A S

(*Continued from Vol V No I, page 64*)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No	Period & Date	Events
37	Parśva Tirtha	Nila and Mahanila, Vidyadhara kings of Vetadya hilly tracts came and settled in South India They visited the Terapura Jain Shrines and consecrated the images of Jinas and cave temples at Dhārāśiva caves in Osmānābad district of the Nizam territory The buildings and monuments available at Dhārāsiva cave temples bear hoary antiquity and go to support the Jain tradition The Śilāhāra kings of Deccan were descendants of the Vidyādhara kings of Tagarpura which is the Terapura of the Jain tradition [Refs Karakandu-cariya, (Karanja Series), Introduction]
38	Ditto	Makkhali Gośāla and Purana Kaśyapa flourished They were Śramanas belonging to the order of Pārsvanātha The former learned some Pūrvas and Amgas and dissenting from the Jaina fold founded his new sect, known as the 'Ajivikas The main tenets of the Ajivikas were taken

Period & Date	Events.
	from the Jain Pûrvas The Ajivaka Śramanas observed the vow of nakedness like the Jaina Śramnas of the order of the Tirthankara Pārśvanātha
	[Refs *Barma*, The Ajivikas; *K. P Jain*, Mahâvira and some other Teachers of His Time; and Samkṣipta Jain Itihāsa, Vol II, Pt. I pp. 52—73].
Ditto.	Muni Pihitāśrva flourished. Buddhakirti was his prominent disciple, who became a dissentor and the founder of the Buddhistic faith
	[Refs Darśana-sāra; *Law*, Buddhistic Studies Ch V.]
Ditto.	Sanjaya and Maudgalayana were also asectic members of the Pārśva Tirtha. The latter joined the Buddhist order.
	[Ref. *K P. Jain*, Bhagwāna Pārśvanātha]
Ditto.	Karakandu son of Dadhivāhana, king of Champa flourished He repaired and consecrated a certain Jina image and cave temples at Dhārāsiva (Osmanabad)
	[Ref Karakandu-Cariya (Karanja Series) Intro.]

No	Period & Date	Events
42	Ditto	Muni Vidyuccara attained *Nirvāna* from the western quarter of Tāmraliptanagar in Bengal [Ref *Br Sitalaprasad*, Bengal Bihar and Orissa Jain Smārk p 121]
43	Ditto	Raja Vasupala flourished at Ahichhatra (Bareilly district) and caused to be built a temple and an image of Tirthankara Pārsva natha at Ahichhatra [Ref Aradhanā Kathākosa]
44	B C. 642	King Sisunāga became a famous ruler of Magadha, after whom the line of the 'Saisunāga princes came into existence [Ref Hindi Jain Encyclopaedea Vol I P 167]]
45	B C 640	Mauryaputra of Kāśvapagotra who became seventh ganadhara of Mahāvira afterwards born in Mauryākhyadeśa His father was Mauryaka [Hindi Jain Encyclopadea p 7]
46	B C 635	Vyakta alias Suchidatta of the Bhār advaja gotra, afterwards the fourth *ganadhara* (apostle) of Mahāvira, son of the Brāhmana Dhanamitra and Brahmani Vāhani born at Kollaga near Vaiśali [Ref Hindi Jain Encyclopadea Vol I, p 7]

No	Period & Date	Events.
47	B. C. 625 607 or 570	Indrabhûti Gautama of the Gautama gotra, son of the Brāhmana Vasubhûti and his wife Prathvi born at Goravaragrāma in Magadha [Ref Ibid.]
48	B. C. 624	Sudharman, who after Indrabhûti Gautama succeeded Mahāvira as the head of the Samgha (Order), son of Dhamilla and Bhadrillā of the Agnivaiśyāyana-gotra born at Kollāgagrāma. He is mentioned by the Buddhists by his Gotra name Agnivaiśyāyana. [Ref Ibid and S J I., 1, 2, 129—7.]
49	Ditto	Mandikaputra of the Vaśiṣta gotrā, afterwards sixth ganadhara of Mahāvira, son of Dharmadeva and Vijayā born in the Mauryākhya-deśa [Ref Ibid].
50	B. C. 623	Akampana of the Gautama gotra afterwards the eighth Ganadhara of Mahāvira, born in the house of Brāhmana Vipradeva and Brāhamani Jayanti at Mithilapuri. [Ref. Ibid.]
51	B. C. 617, 599 or 562	Vardhamāna Mahāvira, the last Tirthankara, of the clan of Ikṣuvāku Kṣatriyas, known as Gñātrikas and the Kāśyapa-gotra, son of Raja Siddhārtha and his queen Triśalā born at Kundagrāma on Chaitra Sukla Tryodaśi. [Ref. Saṃksiptā Jain Itihāsa Vol. I, pp 50—52]

No	Period & Date	Events
52	Ditto)	Chārana munis by name Sanjaya and Vijaya visited Kundagrāma and wiped away their dirt of mind having the sight of the new born Tirthankara prince Vardhamāna [*Ibid*]
53	Ditto	Gaṇadhara Achalabhrata alias Dhavala of the Haritāpana gotra son of Brahmana Vasu and his wife Nanda born at Kauśala puri [Ref Hindi Jain Encyclopaedea — I 7]
54	B C. 605	Maitreya, who afterwards became the tenth ganadhara of Mahavira belonging to Kaundinya gotra born to Brāhmana Datta and Brāhmaṇi Karunā at Tungikāvya grāma in the country Vatsas [Ref *Ibid*]
55	B C 598	Agnibhuti of the Gautamagotra and brother of Indrabhuti Gautama born He also became an apostle of Mahāvira Ref SJI, Vol II pt. I p 124]
56	B C. 595	Vāyubhuti of the Gautamagotra and an step-brother of Indrabhuti Gautama afterwards one of the apostles of Mahāvira son of Brahmana Vasubhuta and his second wife Kesari, born at Gorvaragrāma known also Gautamapuri. [Ref *Ibid* 125 & H J E. 1—7]

No	Period & Date	Events.
57	B. C 587	Mahâvîra leaves home and becomes a naked ascetic at the age of 30. (Margaśirsa śukla Dasami) He having taken *Dikṣā* in the Vanakhanda-udyāna takes a vow of 52 hours and remain absorbed in meditation. At the end of his vow he leaves the place and reaches Kollaga-grāma, where he is duly entertained by a Kula nrapa, Thence he again retires to calm and lonely places to perform asceticism and meditation. Ref. SJI. Vol II pt I pp 56—61.]
58	B. C. 585	Prabhāsa, who afterwards was the last Ganadhara of Mahāvîra and was the real brother of Ganadhara Maitreya, born at Tungikāvyagrāma [Ref. *Ibid*
59	B. C. 585—590	Śrenika Bimbisāra, the fifth king of the Saiśunāga line of kings of Magadha born at Rājagraha. [Ref. Saṃkśipta Jain Itihas I, 18.]
60	B. C. 582	Śrenika Bimbisāra ascended to the throne of Magadha. He is the first Indian monarch about whom anything substantial is known. He built the new town of Rājagraha, the lower town at the base of the hill crowned by the ancient fort; and annexed Anga in his kingdom The annexion of Anga (Bhagalpur district) was the first step towards the greatness and supermacy which Magdhan Kingdom attained in the following

No	Period & Date	Events
		centuries Hence Bimbisāra is rightly regarded as the real founder of the Maga dhan imperial power It was during his reign that the Alchaemonid power on the N W Frontier of India came to an end which Darious Hystaspas had subdued ere this Śrenika further strengthened his posi tion by matrimonial alliances with the more powerful kings of the neighbouring states taking one consort, from the influential Lichchhavi clan at Vaiśali This lady was the sister of the mother of Mahāvira and she gave birth to Kunika Ajātaśatru who succee ded Śrenika Of the other consorts of Śrenika one belonged to the royal house of Kosala and an other was the Brāhmana lady Nandaśri of Kānchi In his early life Śrenika was abolished form Magadha by his father and while on exile in South India he married the above lady, who after wards became the mother of Abhayaraj kumāra In his absence Chilātikumāra ruled but he was dethroned by the ministers and Śrenika succeeded him His reign lasted for 28 years Srenika adopted the religion of Gautama Buddha but he was made a believer of Jainism afterwards by the laudable efforts of his chief queen Chelani, who was the daughter of king Chetaka of Vaisali
		Srenika was an ardent follower of Mahāvira He paid glowing tributes and homage

No	Period & Date	Events
		to the Great Hero, whenever he visited Rājagraha and he is attributed to have built on the Pārasnāth hill. [Ref. *Harisena* Kathākośa; Samksipta Jaina Itihasa, Vol I, pt 2 pp. 13 20. *Smith*, Early History of India, pp 35—38, Modern Review, (Oct. 1930) p 438 ff. *K P. Jain*, Some Historical Jain Kings and Heroes, pp. 11—15.]
61	B C. 581	Śrenika Bimbasāra marries princess Vilāsavati, the daughter of Rājā Mragānka of Keral probably in this year. [Ref Śrenikacaritra (Surat) p. 99 & SJI Vol II pt. I p. 15]
62	B. C 575 557 or 520 B C.	Mahāvira begins his public career, having attained to Jinahood near Jrambhikagrāma (modern Jharia) on the bank of Rijukūlā river on Vaiśakha śukla daṣami Ref. JI Vol II pt I pp 74—75
		Mahāvîra, as a Jina, reaches and delivers his first sermon on the Vipulāchala hill near Rājagraha in Magadha: Indrabhūti Gautama and others being converted to Jainism become His apostles
		To be Continued.

Magic and Miracle in Jaina Literature

By

Kalipada Mitra, M A , B L

There is abundant reference to magic in Jaina literature It ranges from the gross and crude practices to avert the evil eye for the purpose of affording protection against the baneful influences of planets or malignant spirits to the subtle penetration into one s mind to discover his thoughts and paralyse his energy, inducing magic sleep going through the air, causing invisibility and the dreadful black art which compels obedience of human and divine victims to it

Ṛṣabhadeva, the first Tirthankara has been regarded in the Jaina scriptures as the originator of human institutions In an account of his life we read that the four quarter maidens (*dikkumāryah*), viz of the middle Rucaga mansions, after having bathed the new born Tirthankara and his mother Marudevi, procured wood of *go śirṣa* and *candana* (both meaning sandal, though of different varieties) from the little Himalayas made fire by firedrill (*araṇim ghaḍeittā saraenaṃ mahamti mahittā aggiṃ pāḍenti*) threw the wood into the fire made *homa agghomam*), performed *bhūikammam*, bound a protective amulet (*rakkhāpoṭṭaliyam bamdhamti*) and taking two round stones inlaid with many gems and jewels, touched the root of the ears of the babe with them making a rattling sound (*ṭiṭṭiyāvemti*) and saying ' Long live thou ! '[1]

From the *Aupapātikasūtra* the *Bṛhatkalpa-bhāṣya* and the commentary of the *Pravacanasāroddhāra*, *bhūikamma* or *bhūtikarman* means smearing the body with (holy) ashes and binding threads as a protective charm for the body In Sanskrit it may mean a birth rite, or

1 cf *Supāsanāhacaria* p 43 translation of Sl 76
Tāḍayanti śravaṇamūle ratnopalāni dṛśam vadantyah I
Saptakulaparvat yurapratihatāśāno bhavat I II

an auspicious rite, with a magical flavour. In the *Nāyādhammakahā-sūta* (Agamodayasamiti edition p. 227) we find mention of *sonisuttaga*, the commentator explains it as *Śroṇisūtrakam ca bālakānām carmādi davarakarūpam katisūtram* or a thread worn round the waist as a charm against the evil eye. In Pāli literature we find mention of *katisutta* or *katisuttaka* (*PVA*, 134) a string around the waist, also in Vin. II. 107 and 271 as a girdle or waistband, worn probably as a charm against the evil eye In Bengal little boys wear this thread which is called *ghunsi*, in Orissa it is called *Kadhuni* or *Katisūtram*.[2] A thread was also worn round the wrist as a talisman This was called the *padisarā* (*pratisarā*, commy, *hastadhāryam rakṣāsūtram*) In *Pratyjñāyaugandharāyaṇa* Act I we find that this was meant to protect Vatsarāja when he was wandering in the forest It was touched by the females of the royal seraglio, who had husbands, for this was considered auspicious · "*padisarā savvavahūjaṇahatthato tuvāriadiṭṭi*" So it was *kautukasūtram*.[3] I have elsewhere explained the protective influence of the thread.[4] The practice seems to have been very ancient, and was prevalent as well in India as in Ceylon In the *Mahāvaṃsa* (ch. 7) we read that *parittasuttam* was bound by an hermit to the arm of each of the companions of Vijaya as a protection against the magic influence of *Yakkhinī* Kuveni (*paritta-sutta-tejena bhakkhitum sā na sakkuni*), *Paritta* (Skt *paritrāṇa*) is mentioned in *Cullavagga* V. 6, where a *mantra* is recited as a protection against snake bites. For a long time it was used to avert influences of devils (*yakkha*), and its variants, *Pirit* in Sinhalese, *pē-yeik* in Burmese and Siamese, are synonyms of Pāli, *rakkhā*, *gutti*.[5] In *Milinda* we get *kata-paritta* in the sense of charm-protected

2 J C Ray in his *Bāngālā-śabdakoṣa* conjectures that it is the relic of the Vedic *nivīta*, we find *kadisutta* in *Samavāyāngasūtra* (Agamodayasamiti ed, p 183) and in *Karpūramañjarī*

3 cf *Kirātatarjunīya*, 5-33
and *Mālatīmādhava*, 5 18,
also Jaina *Dharmasamgraha*, 2

4 *Man in India Vol* IV (1924 pp 74—92) *Customs and Taboos observed by a West-Bengal Woman from Pregnancy to Childbirth*

5 See *Jour Anthrop Soc*, Bombay Vol XII,

Rakkhāpottalikā (variant, *rakkhāpattolikā*) was similarly used to protect other Tirthankaras when they were babes such as Supārś vanātha,[6] Pārsvanātha [7] and Mahāvira Obviously it was a custom prevalent among the people, as Lakṣmanagani says, *jiyameyam* " i e *jitamelat*, it was the custom [8] On other occasions also such talismans were used e g, in *Kumārapālapratibodha* p 112) we find that a goddess gives a king a protective wristlet as a charm against evil spirits *devayāe baddham ranno bhuāe anappa māhappa-manusanāham rakkhāka layam, bhaniyom ca iminā bāhu baddhena na pahavamti jakkha rakkhasāino*

The evil eye was greatly dreaded In the *Upamitibhava prapañcakathā* Brāhmani Agrhitasamketā asked her friend Prajnāvi śāla how king Karmaparināma who was reputed to be impotent and queen Kālaparinati who was said to be barren should have a son Prajnāvisāla answered that from fear of the evil eye the ministers, Aviveka and others had circulated this rumour [9]

It is common knowledge that sometimes owing to neglect of sanitary precautions (e g in cutting the navel etc.) in the lying in room babies are attacked with tetanus manifesting itself in change

6 See *Supārśvanāhacariam* by Śrilakṣmaṇagaṇi, p 43

Santinimittam homam karamti goslead rūhim II 74 II

Niyayappabh va parirakkhiyassavi jinassa jiyameyamti I

K nna pravara rakkhāputtaliyam bamdhayamti tatta II 75 II

7 *Pārśvanātha* 5 75 Bloomfield in his *Life and Stories* of Parśvanatha explains it to be some kind of protecting mark.

8 In the *Rāmāyaṇa* we read that immediately after the birth of Kuśa and Lava Vālmiki gives the consecrated *kuśa* grass for protecting the babes against evil spirits (VII 66 3 6) *Bhūtaghnī cākarot bhyām rakṣām rakṣovināśinīm*

9 *Upamiti* p 158—M bhuddurjanacakṣurdoṣa tathāpi durjanacakṣur doṣabhayādeva cf JRAS (Oct. 1937) Shafta & Pishra & Aina " A Mandean Magical text translated by E S Drower The Scroll for exorcism of the Eyes-Evil Eye, Blue Eye etc

of colour and convulsions, which people attribute to spirit-possession In Bengal it is called पेंचो *Peñco* is derived either from *piśāca* or it is a spirit called *Pañcānanda* It is called the *pūtanā* in the *Vaidyaka-śāstra*, but as Pūtanā was the sister of Vakāsura and was killed by Krsna, the Hindus at least believe her to be possessing babies (an irony of semantics!) At other times also in infancy diseases attack children and are attributed to spirit-possession In *Kumāra-pālapratibodha* Deini is attacked with the Revati spirit (*damtub bheyakāle gahiyāambare revaihiṃ*)[10] In the *Sukhabodha-ṭīkā* (2, 19) of the *Uttarādhyayana*, *revaiyā* is explained as a kind of spirit. Kapila's son, immediately he was born, was possessed by Revati spirits who were exorcised by water poured from the monks' bowls From this circumstance of being *munibhājanakalpāmbhobhisikta* the boy was called *Kalpaka*.[11]

In the *Upamiti* the king's new born child was taken ill in the lying-in room When the physicians came, their chief said that the child was seized with a dangerous and mortal disease The king invited every body to cure the child, and offered his kingdom to the healer Then the people applied herbs, recited *mantras*, bound spells (*kandakāni*), wrote out amulets (*raksā*), performed expiatory rites (*bhūtikarmāni*), exercised their science (*niyojitā vidyā*), revolved the *mandalas* (recited magic formulae ?), remembered the gods, and resorted to the *tantras*. But nothing availed, inspite of these the child died.[12]

Rṣabhanātha is also reputed to have introduced the rites of *mangala* and *kautuka*, and the practice of asking questions

10- *Kumārapālapatibodha* (G O S) p 44

11 Pariśiṣtaparvana p. 47, Canto VII Sls 14—23, Revatibhiragrhyata Tesām mahāprabhāvānām ṛsīnām pātravārṇā I
Abhisiktaṃ śiśuṃ krūravyantaryo mumucurdrutam II

12 *Upamiti*, pp. 609, 610.

In Jaina literature we frequently come across the stock phrase "*nhāyā kayabalikammā kayakoua mangala pāyacchittā suddhappabesāyim mangalāyim vatthāyim*"[13]

Koua means the making of black marks (*masi tilaka*) either on one's face (*vadane masicihnādikam*) or on person as a protective charm. Dr Vaidya explains it as "putting on the body auspicious marks of collyrium, say a spot of black pigment on the cheek" (*Paesi* Notes p 59). Bhaddā, the wife of a merchant, protects her infant son Devadinna in this way before she delivers him to the servant Panthaka to take him out to play. She marked him with soot spots (*masī tilakādim*) or put collyrium to his eyes (?) and bound amulets to his person (*rakkhābandhanam*) in order to protect him from the evil eye. *Kautuka* also included the burning of incense and performance of *homa* to bring good luck or avert an evil.[14] There is a reference to it in the *Upamiti*, also in Sanskrit literature.[15]

Mangala signs were usually drawn or painted with pounded unhusked rice mixed with water or the *mangala* objects were

13 Jaina *Kalpasūtra* p 51, *Ovavāiya* 17, *Uvāsagadasāo* (Dr Hoernle's ed pp 6, 122) *Nāyādhammakahāsutta* (cf queen Dhārinī's dream, Bhadrā's precautions), *Vivāgasūya* (Vaidya's ed paras 68, 78, 112, 138—40) *Panhavyākarana* I 2, *Rāyapasenisutta*, *Dharmasamgraha*, *Paesikahānayam* (Dr P L Vaidya's edition p 6) *Sukummāputta cariam* (Sl 106) *Āvasyaka Sls* 253, 258

14 *Vavahārasutta* 1, *Nāyādhammakahā* 1, 14, *Āvasyaka* p 268 Sūlapāni Jakkho rusito mārim viuvvai tato addhannā *Kougasayāni* karenti tahavi na thāi

15 Vālmīki *Rāmāyana*—I 73 9 *Bhrātrbhih sahito Ramah krtakautukamangalah* also Sl 11, I 22, 2, 2 437. Kausalyā performs *mamgala* rites before Rāma goes in exile to the forest—II 25. *Cakāra mātā Rāmasya mamgalāni* *hrsayām sa vrddhim R mamamgala karani* mustard seeds were used (Sl 26) there is reference to *vāni* (Sl 29) honey curds *akṣata svastayana* (30, 31) For his protection she consecrated herbs with mantras *autadhimca susiddhārtham visalyal aranam subha i cakāra raksham Kausalyā mantrairabhijapanti* (Sls 38, 39) For *mangala* rites for warhorse see *Pratij* Act I turangamasya rane nivitte nirājanakautukamangalāni *Svapnavāsavadattam* Act II ajja ebba kodua mangalam kadabba tti amhānam bhatihini bhanadi *Kumārasambhava*—vivāhakautuka (5 66)

exhibited, for bringing good luck. They are (1) *dappaṇa* (mirror), (2) *bhaddāsaṇa* (auspicious seat), (3-6) the mystic signs of *Vaddhamāṇa* (Vardhamāna), *Siribaccha* (Śrivatsa) *Sotthiya* (Svastika), and *Naṁdāvatta* (Nandyāvarta), (7) *macche* (fishes) and (8) *Kalasa* (pitcher).[16] In Ṇāyādhamma (p. 210) the commentary says, "*tandulairdarpaṇādy aṣṭamaṅgalā lekhanaṁ ca karoti.*" These objects were the first to be exhibited when Meghakumāra rode his palanquin and started on his journey.[17] Maṅgala rites were performed to ensure success to to an undertaking When king Guṇasena rode his chariot and waited for the auspicious time to start with his army against the enemy, golden pitchers filled with water were placed in front and trumpets sounded notes of victory. At the time of the anointment of Prince Ānanda the following *maṅgala* objects (*abhiseyamaṁgalāiṁ*) were produced—*viz.*, a couple of fish, a full pitcher, white flowers, big lotuses (*mahā-paumā*), white mustard (*siddhatthayā*), clods of earth, bull (*vasaha*), big vessels full of curds, big gems, *gorocaṇā* a bright yellow pigment prepared from urine or bile or found on the head of a cow), hide of lion, white parasol, auspicious seats (*bhaddāsana*), chauries, *durvā* grass, *acchasurā* (limpid wine ?). great banner, *gayamayo* (secretion of elephant in rut), unhusked rice, muslin cloth, and other auspicious things[18].

Dr E. H. Johnston says that he has come across the correspoding Pāli word *Vaddhamāna* (Jain *Vaddhamāṇa*, Skt *Vardhamāna*) at three places. "It denotes a certain lucky figure and is applied to anything made in that shape or supposed to resemble it, such as amulets, ritual vessels. .."

"The two later occurrences of the word in Pāli are in the list of lucky objects presented by Asoka to Devānampiya (1) at *Dipavaṁsa*

16 *Supāsanāha*—pp 51 52
Sārayasasikaradhavalehim akkhaehim ime samālihai I dappaṇa bhaddāsaṇa vaddhamāṇa siribaccha macche ya II 284 II taha satthiya namdāvatta kalasapajjaṁta maṁgale attha I

17 *Nāyā* . p 54

18. Samarāiccakahā—(Jacobi's edition) pp 22 and 77; 124 and 125

XI 32 3 —*Gangodakamca bhiṅkāram saṅkham ca sivikena ca* ‖ *Nandyāvattam vaddhamānam rājābhiseke pesitā* ı (2) and at *Mahāvaṃsa* XI 30-1 —

Saṅkham ca nandyāvattam vaddhamānam kumārikam ‖
Hemabhūjanabhandam ca sivikam ca mahāraham ı

Compare with these the list of lucky objects seen or touched by Yudhiṣṭhira which include at *MBh* vii, 2930, *svastikān vardhamānāṃs ca nandyāvartāṃś ca kāñcanān* and of the lucky figures seen by Sujātā in the milk, *Lalitavistara* (ed Lefmann) ch 18, p 268, *śrīvatsasvastikanandyāvartavardhamānādini maṅgalyāni*[19]

When the soothsayers (dream interpreters) were summoned by King Seniya to come and interpret the dreams of Queen Bhaddā, they, before starting bathed and went through *kautuka, maṅgala* and *prāyaścitta* rites to avert the evil consequences of bad dreams (*duhsvapnādivighātārthamavaśyakaraṇīyatvāt*) They also placed *siddhārthaka* curds, *akṣata durvā* and *haritālika* (a yellow orpiment) on their heads to bring good luck

The usual interpretation of *pāyacchitta* = Sanskrit *prāyaścitta* Only the commentary to § 66 of *Kalpasūtra* Jacobi s edition p 108 makes it *pāda chhupta*, ' touched with the feet ' said to insure protection against the effects of the evil eye Dr Hoernle says that in Bengal the belief is that so long as one touches the earth with one s feet, one is safe from the evil eye According to Hemcandra (iv 258) *chitta* is the Prākrt form of Skt *chhupta* or *spṛṣṭa* ' touched The Commentator Lakṣmīballabha explains ' *pāyacchittā pādena pāde vā chuptāścakṣurdoṣaparihārārthaṃ pādachuptā vighnanivāraṇāya* Hoernle quotes Grierson *Behar Peasant Life* § 1303—53 these and similar precautionary rites were observed during the marriage to ward off evil The Sanskrit *prāyaścitta* refers to the application of collyrium (*masi*) to the eyes and vermilion to the head (the *puṇḍra* or *tilaka* marks) and to the putting of curds or rice or sandal powder to the forehead, which simulate *prāyascitta* or expiation

19 JRAS 1931 pp 583 ff

Another magic practice was the asking of questions and is attributed to Rsaha.

Iṃkhiṇiyādiruyaṃ vā pucchā puna kiṃ kahiṃ kajjaṃ ‖227 ‖
ahava nimittāṇaṃ suhasaiyāi suhadukkhapucchāvā ǀ
iccevamāiyāe uppannaṃ Usabhakālammi ‖ 228 ‖

The commentary explains —" *Tathā pracchannaṃ pṛcchā, sā iṅkhinikādirutalakkhanā, iṅkhinikā hi karnamūle ghantikam cālayanti, tato yaksāh khalvāgamya tāsām karnesu prasturvivaksitaṃ kathayamti; athavā kiṃ kāryam katham vā kāryaṃ ityevamlaksanā yā loke prasiddhā pṛcchā sā pṛcchanā, yadi vā nimittādīnām ādiśabdāt svapnaphaladi parigrahah"*

This refers to the once prevalent practice of asking questions of some seeress She jingled some bells at the root of her ears, then some yakṣas came, and whispered in her ears the answers. Sometimes she was possessed by some spirit, and thus possessed she gave oracles In Pali literature we have reference to this practice of obtaining oracular answers, *e g*, from a god, called *deva-pañho* (D 1 11=D A, 1 97) which is explained as ' *devadāsiyā sarire devatam otāretvā pañhapucchanaṃ*," i e., causing a god to descend on the body of a *devadāsī*, and asking questions using her as an oracle. There has been much discussion over the word *devadāsī* occuring in the Jogimārā Cave Inscription[20] Jayaswal gave the the following English translation of the third and the fourth lines of the inscription · "(*Order*)—Sutanukā, by name, *devadarśini*, of austere life, (is) now (or here) in the service of Varuna" This reading was obviously suggested by the word *Vāruni*, in the following passage of the Vessantarajātaka (*Jat.* Vol VI)

Maddī ca puttake disvā durato sotthim āgate
Vāruṇīva pavedhenti thanadhārābhisiñcathāti

Continued.

20 *JBORS* Vol IX 274ff and *Proc Fourth Oriental Conference*, Vol. II, pp 699f

The Jhunta Rai temple marble stone—slab inscription of V. S. 1716

BY

(Shaktidhar Sharma Guleri M A)

This inscrip tion, which was formerly attached to the Jhunta Rai temple at Amber in Jaipur and is now preserved in the Jaipur State Museum was noticed by the late Rai Bahadur Dayaram Sahni[1] and is being edited here in detail I am thankful to Dr K N Puri Superintendent of Archaeology Jaipur for allowing me to edit the inscription I am grateful to Dr N P Chakravarti for some of his suggestions in preparing the article

The first fifteen lines of this very well preserved inscription, which is incised with great care and neatness on a smooth rectangular white marble stone-slab in well executed and deeply cut Nāgari characters measure 2′ 3 5″ each, while the last line which is detached from the rest of the inscription by a prominent broad *rim* measures 2′ 7 5″

Excepting lines 10 14 which are written in a corrupt Sanskrit prose mixed with local (dēśi) words and certain abbreviations, the inscription is composed in good classical Sanskrit

In respect of *orthography* the conspicuous points to be noted are —

1 Frequent use of the sibilant *b* in place of [illegible] 2 Dental *s* is substituted for palatal *ś* 3 Consonants following a superscript *r* are often reduplicated 4 Nasals are usually represented by anusvāra

Abbreviations are frequently used, *e g* *chau sam*, *pra dvi* and *tri* stand for *chaudharī* *samgrahī* *prathamah* *dvitīyah* and *tritīyah* respectively

1 Archaeological remains and excavations at Bairat, page 9

The inscription opens with a verse in praise of Vimalanātha,[2] the Jain deity of the temple, followed by a few words in prose which record the date of the laying of a *kūrmaśilā*,[3] the foundation stone of the temple at *Ambāvatī*[4] on *Wednesday, the 10th of the dark half of Phālguna in the (Vikrama) Samvat 1714* (=17th March, 1658 A D.), the corresponding Śaka year being 1583 (L I). Ambāvati, embellished with palaces and groups of golden Jain temples studded with lines of jewels, is called the capital city of the country called *Ḍhumḍha*,[5] adorned with step-wells, wells and tanks,[6] abounding in good men and looking beautiful with gardens resembling the Nandana forests and fields fertile with fruits of all seasons.[7] The ruler of Ambāvati was Jayasimha son of Mahāsimha, belonging to the Kūrmma dynasty in which were born, in course of time, Prithvirāja and other rulers, Mānasimha and Jagatsimha who were devoted to the protection of the world By rendering services to the king of *Dhili*, he (Jayasimha) had obtained (as a fit reward) the big group of twenty-seven cities not easy to be described (vs 2-7).

2 The 13th Jaina Tīrthaṅkara

3 The foundation-stone-laying ceremony is referred here. For similar terms and ceremonies performed before the construction of the building, see Dr P. K Acharya's Dictionary of Hindu Architecture page 592, The Udayapura Mahâkāvya Inscription refers to a similar *Ādhāraśilā* Ceremony, (see, foot note No 19)

4 *Ambāvatī*, the ancient name of Amber, was the third capital in succession of the Kachhavāhā rulers, the first two being Dausā and Rāmagadha respectively It is believed to have been founded in the 10th or 11th century A D General Sir Cunningham derives the name of Amber from Ambikēśvara, the name of a large temple at Amber

5. *Dhumḍha* or *Dhumḍhaḍahaḍa* (line 9 of the inscription) was the old name of the territory ruled by the Kachhavāhas

6 For the significant meaning of these terms, see Dr P. K Acharya's Dictionary of Hindu Architecture, page 543.

7. 'The gardens, lakes and wells of Amber are well known,'

Then follows a succession list of the Jain pontiffs of *Sarasvati gachchha Balatkāra gaṇa* and *Mūla saṁgha* [8] beginning with Prabhēndu Bhaṭṭāraka [9] To his *paṭṭa*[10] belonged Bhaṭṭāraka Chandrakirtti [11] who was followed by Dēvēndrakirtti [12] who in his turn, was followed by Narēndrakirtti,[13] who undertook the long journey to Girnār in the Udaya mountain[14] (vs 8 10) The construction of the Jain temple of Vimlanātha at Ambāvati is ascribed to Narendrakirttis disciple Mōhanadāsa who belonged to the Khandēlavāla [15] family and was the chief minister of Mahārāja Jayasimha Mōhanadāsa was the son of Sh(kh) ētasī and grandson of Mallidāsa and had Kalyāna, Vimala and Ajita for his sons and one Mansukhadā for his chaste wife (vs 10—16)

8 For detailed account of these terms see Dr A F Rudolf Hoernle Two paṭṭāvalis of the Sarasvatigachchha of the Digambara Jains (Indian Antiquary Vol XX page 341)

9 The same as Prabhāchandra II Date of accession V S 1310 As he is said to have caused the image of Sarasvati to speak the name Sarasvati *gachchha* is ascribed to his gachchha

10 *Paṭṭa* is the name given to the line of Jain pontiffs

11 The 90th pontiff whose date of accession is given V S 1622 in Ms B of Dr Hoernle s list

12 The 91st pontiff whose date of occasion is V S 1662 He is also mentioned in the two inscriptions on the two marble pillars from Śiva Dūngar and in the Pāduka stone slab inscription of the Jain garden at Bairat.

13 92nd pontiff whose date of accession is V S 1691 according to Ms B of Dr Hoernle s list He is mentioned in lines 10 and 13 of the Paṭṭāvalī Stambha *inscription on the white marble pillar from Śiva-Dūngarī dated Sunday the 5th of the bright fortnight of Jyeshṭha V S 1706* The present inscription being dated in V S 1716 attests to the information of Ms B that Surēndrakirtti successor of Narēndrakirtti, ascended to the pontiff's office after V S 1721

14 The Girnar mountain in Guzerat Being a place of religious sanctity for the Jains it was visited by the Jain pontiffs very often The same as Ujjayantāchala and Raivatagiri (See Nahar Inscriptions from Jaisalmer page 226, and also inscriptions nos 2139 and 2181)

15 *Khaṇḍēlē* or *Khaṇḍēlvāla Baniyās* also bear the surname of *Saṁghis* or *Siṁghis*

The following prose portion records that on (Trētāyugādi auspicious ?) yōga *on Thursday, the 3rd day of the bright half of Vaiśākha in the year 1716 of the (Vikrama) Samvat* (= 14th April, 1659 A D) the corresponding Śaka year being 1583, during the (Plavanga) samvatsara, in the reign of the Kachhavāhā ruler Mahārāja Jayasimha, the Mahāmandalēśvara of the emperor Shahjahan, his Chief Minister Samghādhipati [16] Mōhanadāsa. the governor of Ambāvati, at the instance of the Jain pontiff Narēndra kīrtti, constructed in the fort of Ambāvati in the territory of Dhundhāhada, a temple in honour of the Jain deity Lord Vimalanātha.

Lines 10—14, which supply us with a detailed list of the members of the Khandēlvāla family, inform that the family belonged to the Bhausa *gōtra* and Mōhanadāsa, whose father Shē (khē) tasī was the second son of Chaudhari Śrīmāla [17] (who is the same as Mallidāsa), besides Manasukhadā (referred to in line 8) had one more wife Mahimādē by name.

It may be noted at the outset that the corresponding Śaka year for both the dates is 1583 As the details of both the dates agree with the years in the Vikrama Samvat the corresponding Śaka years for the Vikrama years 1714 and 1716 should be read as 1579 and 1581 respectively.

Rai Bahadur Dayaram Sahni gives V. S. 1714 (the date mentioned in line 1) as the date of the construction of the temple taking no notice whatsoever of the second date e g, V. S 1716, which is mentioned in line 9, and is the actual date of the construction. A close reading would show that the second half of the first

16. *Samghādhipati* or *Samgrahī* was the officer in charge of the welfare of the Samgha of Jain pilgrims which consisted of four component parts, viz *Muni, Aryikā, Śrāvaka* and *Srāvikā* (Nathuram Jaina Ant. Vol VI, No 11, page 81)

17 *Śrīmāla* or *Bhīnamāla* was the old name of the territory to the south of Jodhpur Brāhmins, Kshatriyas and Baniyas bear the surname of *Śrimāli* in Rajputana. For references in inscriptions, see ' Nine inscriptions edited by Jackson. Bomb Gaz Vol I, page 1, pp 472ff. and Nahar Inscriptions from Jaisalmer

line records the date of the laying of a kūrma śilā, and the foundation stone of the building and there is no mention whatsoever of any temple not to speak of the completion of its construction (after which the inscription recording its date is usually set up) in the preceding first half of the first line or in the following ten verses This date does not record the construction of the temple which is dated in the V S 1716 (line 9) Thus we see that the difference between the date of the foundation stone laying ceremony and the completion of the temple is of one year and two months

The inscription supplies us with a genealogy of the Kachhavāhā rulers which fully agrees with the one we come across in other inscriptions It mentions that Mahārāja Jayasimha had acquired the group of 27 cities (as a fit reward to his services) from the king of Delhi who, according to Rai Bahadur Dayaram Sahni was Aurangzeb We admit that Māhārāja Jayasimha, who had a very long reign (V S 1678 1726) was contemporary of both Shahjahan and Aurangzeb But the emperor referred to here is Shahjahan who is called the emperor of Mahāmandaleśvara Jayasimha in line 9 of the record It is interesting to note that Shahjahan is called the Emperor of Jayasimha, though Aurangzeb had ascended to the throne of Delhi on the 1st December 1658 A D (Eliot Vol VI page 229, some ten months before the date of the record (i.e. 14th April 1659 A D) It seems that Mahārāja Jayasimha did not accept the suzereignity of Aurangzeb during the early few years that followed his usurpation The Muntakhabul-l lubab (Vol II page 6) and Eliot (Vol VI page 215) inform us that Maharāja Jayasimha sided with Darashikoh against Aurangzeb in the warfare that followed the serious illness of Shahjahan in A D 1657, and was sent by the former against Mohd Shuja (who was siding with Aurangzeb) on the 1st December 1657 A D And we know that for many years after his accession Jayasimha rendered no service whatsoever to the throne of Delhi

This gift of 27 cities is not, however, referred to by the Muhamadan historians, though the valuable services of Jayasimha to

Shahjahan are mentioned again and again.[18]

We know that similar gifts were granted to Rajput Chiefs by the Moghuls. The Udaipur State Mahākāvya inscription [19] of V. S. 1732 (See, annual Report of the Archaeological Survey of India 1917-18, and Bhandarkar's List. page 145) informs us that in V. S. 1711 (=1654 A. D.) a similar gift of fourteen districts was made by Shahjahan, who had come to Ajmer, through his minister Nasmalla to Rānā Jagatsimha of Udaipur. And it is very probable that Jayasimha, who had rendered great many services to the throne of Delhi was granted a similar reward.

According to Rai Bahadur Dayaram Sahni the name of the Jain pontiff, at whose instance the temple was constructed by Mōhanadāsa, is Dēvēndrakirtti. Dēvēndrakirtti, who is mentioned in verse 8, had nothing to do with the construction of the temple, and it is at the instance of Narēndrakirtti, the preceptor of Mōhanadāsa that the temple was constructed.

---

18 Services of Mahāraja Jayasimha may be summed up as follows:—

1. Paid homage to Shahjahan on his way from Ajmer to Agra, June 1628 A D 2 Pursued Khanjahan, 1630 A D 3 Was placed incharge of a Division of 12000 soldiers and sent to Qundhar accompanied Shuja in his southern campaigns, 1635 A.D 4 Sold the plots of his forefathers at Agra (which were granted to Manasimha) on a very nominal price to Shahjahan for building the great tomb of Mumtaz Beghum who died in 1640 [B P Sexena Shahjahan p 310. 5 Assisted Murad in the seige of Nurpur and inhis campaigns againRājā Māna, Nov 1641 A D. 6 Was sent to plunder Parenda during the Southern Campaigns

19 The inscription was first noted in the Archaeological Survey Report 1917-18, and in Dr D R Bhandarkar's list of Inscriptions, No 1020 The inscription is being critically edited by Dr. N P Chakravarti, Government Epigraphist for India, and shall perhaps be published as a Memoir of the Archaeological Survey.

Text.

[Metre Anushtubha —verses 1—16]

1 ॥[1] सिद्धेभ्यो नम ॥ प्रणम्यादौ जिन देव वि (नि) मल वि(वि)मल वि(वि) भु ॥(।)
प्रशस्ति सल्लिखामीह जीवनाथ च कीर्त्तये ॥१॥ सव(व)त् १७१४ व(व)र्षे शाके १५८३
प्रव(व)र्त्तमाने फागु(ल्गु)ण(न)मासे कृष्णपक्षे दशम्या तिथौ वुद्धवासरे ॥

L 2 ॥रे[2] कूर्मशिला स्थापिता [।*] वा(वा)पीकूपतडागादिमण्डिते नि(वि)षये परे [।*]
ढढनाम्नि वि(नि)ख्यात सभूते सुजनैर्जनै ॥१॥ (॥२॥)
यनर्नंदनसकाशै सर्व्वर्त्तफलदायकै । चैत्रै स(श)स्य भूतैर्यस्तु वि(वि)भाति वि(वि)
षयो व(व)र, ॥२॥ (॥३॥) अमानती राजधा

L 3 ॥ नी राजते राजचे(चे)श्मभि । हेमैर्जिनगेहव्यूहैर्जटिते रत्नचे(चे)श्मभि ॥३॥ (॥४॥)
कूर्मव(व)शेथ सजाता पृथ्वीराजादयो नृपा ॥ (।)
मानसिंहजगत्सिंहौ महीरक्षणतत्परौ ॥४॥ (॥५॥)
जयसिंहमहिपाल (लो) महासिंहस्य पुत्रक ॥ (।)

L 4 ॥ सेवि(वि)तो राजवृ(वृ)न्दैश्चाना शास्त महाप्रभु ॥५॥ (॥६॥)
ढिलीपसेवया येन सप्राप्ता स(न)गरावली ॥ (।)
गरीयसी कथ व(व)र्ण्या सुरा(म)ताधिक निशाति ॥६॥ (॥७॥)
श्रीमूलसघे नि(नि)र्दो मान्यो बलात्कारगणे व(व)रे ॥ (।)
प्रभेंदुभट्टारकादिगच्छे (च्छे) ।[3]

L 5 ॥ सारस्वते यमौ ॥७। (॥८॥)
तत्पट्टे भूच्चद्रकीर्त्तिभट्टारकमहाप्रभु ॥(।)
ततो दर्वेंद्रकीर्त्तिश्च शातचित्तो महामुनि ॥८॥ (॥९॥)
नरेंद्रकीर्त्ति सजातस्तत्पट्टोदयभूधरे ॥ (।)
गिरिनारिक्षितौ येन यात्रा च महती कृता ॥९॥ (॥१०॥)
तदाम्नाये

---

1 The two dandas mark the beginning of the line.

2 The letter is unnecessary

3 The danda is unnecessary

L. 6 ॥ विभातीह खंडेलवालान्वये ॥(।)
मोहनदासो महामंत्री जयसिंहमहीभृतः ॥१०॥ (॥११॥)
स्वामिधर्मो विभुसेवी(वी) स्वाम्याराधनतत्परः ॥(।)
शरीरधनपुत्रादिस्वामिभक्त्यैव केवलं ॥११॥ (॥१२॥)
अंबावत्यां कृतो (त) येन वि(त्रि)मलेशस्य

L. 7. ॥ मंदिरं ।
सुवर्णकलशैर्भाति कूटत्रितयसंस्थितः ॥१२॥ (॥१३॥)
पे(खे)तसीनंदनो धीमान् मल्लिदासस्य पौत्रकः ।
पुत्रत्रयैश्च संभाति कल्याणवि(वि)मलाजितैः ॥१३॥ (॥१४॥)
सम्यक्त्वाभरणो जातो दानपूजनतत्पर ।
गुरुं च

L. 8 ॥ सेवमानो भूत्वांत्यादिगुणमंडितः ॥१३॥ (॥१५॥)
मनसुखदा रामा च पुत्रिणी बहुरूपिणी ।(।)
पतिव्रता सुशीला या वाभाति भुवने वरे ॥१४। (॥१६॥)
संव(व)त् १७१६ व(व)र्षे शाके १५८३ प्रव(व)र्त्तमाने [प्लवङ्ग]
नाम संव(व)त्सरे वै(वै)शाषमासे

L. 9 ॥ पक्षे शुक्ले ३ तिथौ गुरुवा(वा)रे योगे ढुंढाहडदेशे अंबावतीनाम दुर्गे पातिशाह श्री साहिजिहाँ जी तन्हामंडलेश्वरी (र) महाराजाधिराजमहाराज श्री जयसिंह जी कुछाहा(कछवाहा)राज्ये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगछे(च्छे) भट्टार-

L. 10. ॥ क जी श्री नरेंद्रकीर्त्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये भौसागोत्रे चौधरी श्रीमाला भार्ये द्वे प्रथमा महिमादे द्वि(द्वितीया)ल्हौडी तयो(यो) पुत्राश्चत्वारः प्र०(प्रथमः) संगही (सग्रही) श्रीडालू भार्या दुर्गादे तत्पुत्र. सं (संग्रही) श्रीआसकरण भार्या पच तत्पुत्र सं०(संग्रही)

L. 11. ॥ श्री शोभाचंद चौ० (चौधरी) माला द्वि० (द्वितीयः) पुत्रः सं० (संग्रही) श्री० (श्री) पे(खे)तसी भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) द्वि(द्वितीया) ल्हौडी तत्पुत्रास्त्रय प्र०(प्रथमः) पुत्रः संगही (संग्रही) श्री मोहनदास भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) भार्या महिमादे तत्पुत्र संगही (संग्रही) श्री कल्याणदास जी भार्या नौरंगदे द्वितीया मोहनदासस्य भार्या म-

L. 12 ॥ नसुखदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० (प्रथमः) पुत्र. संगही (संग्रही) श्री विमलदासजी भार्या दिलसुखदे द्वि (द्वितीय) पुत्रः संगही (संग्रही) श्री अजितदास पे(खे) तस

द्वि(द्वितीय) पुत्र स०(समही) श्री नराइण (नारायण) जी भाया नौलादे तत्पुत्र स० (समही) श्री लूण करण (लूणकर्ण) भार्या लाडी तत्पुत्रौ द्वौ प्र०(प्रथम) चि० (चिरञ्जीवि)

L 13 ॥ वसौ दास (केशवदास) द्वि० (द्वितीय) गरीबदास स० (समही) श्री ले(ते)तसी त्रितीय पुत्र सगही (समही) श्री थानसिंह जी भार्ये द्वे प्र०(प्रथमा) सुजाणदे द्वि (द्वितीया) लाडी तत्पुत्रास्त्रय प्र० (प्रथम) शंकरदास द्वि (द्वितीय) भुवानीदास (भवानीदास) त्रि० (त्रितीय) धीनड चौ०(चौधरी) माला त्रि० (त्रितीय) पुत्र चौ (चौधरी) राइसिंह (रायसिंह) भार्या रा

L 14 ॥ इनदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र०(प्रथम) चौ०(चौधरी) श्री हेमराज भार्या हमीरदे तत्पुत्रास्त्रय प्र०(प्रथम) चौ(चौधरी) श्री मनराज द्वि० (द्वितीय) धनराज त्रि०(त्रितीय) इद्रराज (इन्द्रराज) चौ० (चौधरी) राइसिंह (रायसिंह) द्वि०(द्वितीय) पुत्र चौ०(चौधरी) श्री सुदरदास भार्या सहजीत ह तत्पुत्र नथमल चौ० (चौधरी) माला चतु

L 15 ॥ र्थ पुत्र चौ०(चौधरी) श्री वेणीदास भार्या लाडी तत्पुत्र चौ० (चौधरी) श्रीलालचन्द[।*]एतेषां मध्ये महाराजा श्री जयसिंहस्तस्य मुख्यप्रधानश्यामतोनगरा धिकारी जिनपूजापुरंदर सत्सम्यक्त्वालंकृत गात्रश्रेतु

L 16 ॥ नि (नि)त्यदानकर जिनप्रसादोद्धरणधीर निजयश सुधाधवलीकृत विष्टप साधक नामधेय सघाधिपतिश्रीमोहनदासेन[4] श्री वि(वि)मलनाथतीर्थंकरचैत्यालय स्वर्ण कलशालंकृतनिकूट भट्टारकश्रीनरेंद्रकोर्त्युपदेशात् कारापित(तम्) ॥ शुभानि भवतु ॥

4 Read मोहनदासस्तेन ।

Reviews.

BHĀRATĪYA VIDYĀ :—A Hindī-Gujarātī Quarterly, Vol. I Nos 1–4, Edited by Śrī Jinavaijayajī Muni, Published by the Director, Bharatīya Vidyā Bhavana, Andheri (Bombay), Royal 8vo pp. 1–434, Annual Subscription Rs. 5/-, Bombay 1940-41

India possesses a great cultural heritage Her literary, epigraphic and archaelogical treasures go back to a hoary antiquity and are invested with such an interest that a scientific study alone can rightly interpret their values in the back-ground of the history of humanity. It may look strange, but it is a fact that though the material was available on the Indian soil, the credit of the pioneer work of assessing its value and interpreting its significance to the modern world goes to European scholars, especially to the great savants working in the Indological departments of European Universities Many of them were inspired by a zeal for learning and scientific study quite characteristic of the last century. For decades together the march of Sanskrit and Prākrit studies was led by German scholars of great repute. At present we are passing through a transitional period The old generation of veteran Indologists is fast disappearing in the European Universities, the materialistic forces let loose under the auspices of national madness are fast destroying whatever little good was there in the Western civilization and culture, the younger generation has not got that mental quiet, and there is such an all-round obsession due to the cataclysms in the domestic affairs that hereafter the attention of Western scholars towards Indian studies is sure to disappear gradually. In India, on the other hand, there is a national awakening everywhere, and many scholars are devoting their time to the study of different branches of Indology Apart from the Post-graduate departments of some of the Indian Universities and independent institutions like the Bhandarkar Oriental R. Institute, Poona, Indian Research Institute, Calcutta, etc, it is a happy sign of the times that fresh Institutes are coming into existence with an avowed aim of conducting research in different branches of Indology Deccan College

Research Institute, Poona, Bhāratīya Vidyā Bhavana Bombay Śrī Venkateshvara Oriental Research Institute Tirupati, Bhāratīya Itihāsa Parishad, Benares Research Departments started by the Bombay Government at Dharwar and Ahmedabad and the Jaina Vidyā Bhavana, Lahore are some of the latest Institutions which have come into existence for the study of ancient Indian culture in its manifold aspects Time has come *now when the sons of the* soil must be inspired by an earnest search for truth, seriously undertake the study of national life both in its dark as well as bright aspects and thus help to evolve a better national individuality firmly based on moral values which are essentially humanitarian in character

Bhāratīya Vidyā Bhavana is founded to carry on researches into the realms of ancient Indian culture It is the zest for the advancement of learning of Sri K M Munshi and the liberal munificence of Sheth Goenka that have given rise to this Institution It conducts two Journals one in English published twice a year and the other a Hindi Gujarati quarterly We propose to introduce to our readers the first volume of the Hindi Gujrāti quarterly It is edited by Śrī Jinavijayaji who is already known to the orientalists by his Jaina Sāhitya Samsodhaka and as the General Editor of the Singhi Jaina Series. He is a scholar of cosmopolitan outlook, and his range of studies is very wide comprising different fields like Sanskrit, Prākrit Apabhramsa and Hindi and so also the political history of Gujarāt. Under his able editorship the Journal has made a good start and the articles so far published testify to the earnestness with which the Quarterly is conducted It is not possible to give the summaries of the various papers published here in a short review The different articles can be casually introduced The editor has explained the aim of the Journal in the first number Pt Sukhalalaji has written a refreshing essay on Hemacandra's Pramānamīmāmsā which forms a part *of his Introduction to the ed of PM* published in the Singhi Jaina Series The Jaina point of view as distinguished from that of Vedānta and Buddhism has been clearly brought out Pt Jaichandraji Vidyalankar sheds a good deal of light on some of our early social institutions, especially in the villages such as those

of land-lords, cultivators, artisans, village-pañcāyats, and their future He remarks quite significantly that if the study of our past is not going to enlighten us with regard to our future, it is not worth attempting Sri Vasudevasaran has written a note on Barbara and Mleccha Prof Jinavijayaji has presented his study of the Chaulukyan copper-plates of the Samvat 1033, and further he has also contributed an essay in Gujarāti on Rājarsi Kumārapāla Prof Gopani has taken a survey of Āryan astronomy before the Greek contact, and has also added a note on the date of Akalanka. Prof B B Vyasa has surveyed the influence of Sanskrit drama on Gujarāti plays Prof Zala has written a note on Cyavanākhyāyikā Mr. M D Desai has published (with an introductory note) a Jaina Gurvāvali in Gujarāti prose written in Saṁvat 1482. It is an interesting piece for the study of the post-Apabhraṁśa stage of the MIA Śrīmati S Mehta has given good many details about the Vallabha and the Rāmānuja Sampradāyas Prof M C. Modi has written an exhaustive paper on Svayambhū and his son Tribhuvana Svayambhū and their Apabhraṁśa works namely, Paumacariya and Harivaṁśa. He has carefully put together bits of historical information available in these two works, and has also neatly presented the first two Samdhis of Paumacariya with a valuable glossary and a few notes By their respective articles Profs. Hiralal, Velankar and Modi have given now an extremely useful basis for all those who want to work on the texts of Svayambhū and Tribhuvana Svayambhū. Mr Sarabhai Nawab has discussed about the earliest Jaina images in Gujarāt. Śri Agarchand Nahta has published (with an introductory note) Samayasundara's description of the famine of the Samvat 1687; and he has also discussed the historical importance of a Gurvāvali of the Kharatara Gaccha Śri Durgasankar Shastri has added a note on the Bhāgavatapurāna. Śri P. H. Bhatta has discussed about the best Gujarāti works of Śāmala and the Ākhyānas of Vallabha Śri B. J Sandesara takes a survey of the medieval dramas of Gujarāt and has edited Amrtarasapacisi, an old Gujarāti poem, of Laksmidāsa. Mr. K. M Munshi has given his referesing view-point of the study of Indian history Pt A P Shaha discusses the position of Amarakośa in the Indian lexicographic

literature Pt Becharadas has written an article on the derivation of certain Sanskrit and Prākrit words Śri Bhayani has scrutinised the etymology of four words Mr N I Patel has rightly pointed out that the modern method of writing Devanāgari vowels is absolutely unscientific and misleading The two Rājasthani Hindi Gajals, published in the last number have a good deal of topographical value Besides these articles some important Reviews too have been published The limited space prohibits us from going into the deatils of these different contributions We have high hopes that this Journal would bring to light many new facts about Prākrit Apabhramsa and post Apabhramśa literature many specimens of which are lying hidden in the Bhandāras of Gujarat and Rajaputana The printing and the get up of the Journal are quite attractive We have one suggestion to make that even the Gujarāti articles should be printed in Devanāgari characters so that their contents might be read easily all over India Bhāratiya Vidyā is a significant and substantial addition to the small number of research Journals in Modern Indian languages and we wish it a bright future

A N UPADHYE

THE JAINA VIDYA Journal of the Jaina Vidyābhavana Lahore Editor Dr Banarasidas Jaina M A Ph D, Vol I No 1, July 1941 Royal 8vo, Annual subscription Rs 5/

So far the Jaina Sidhānta Bhāskara with the Jaina Antiquary was the only Anglo Hindi Journal solely devoted to Jaina research Among the Hindi Magazines Anekānta edited by Pt. Jugalakishoraji is doing excellent service in this direction Taking into account the vast amount of untapped material lying buried in Jaina Bhaṇḍāras, it has to be admitted that the number of workers in the field of Jainology is very small and that of the Journals almost nil We are extremely glad to note that the Jaina Vidyā Bhavana is founded at Lahore with the object of creating a centre of Jaina studies The Jaina Vidyā, an Anglo Hindi Quarterly, is the bulletin of this Institute The ambitious programme of the Bhavana has been explained by the Editor

Prof. H. R. Kapadia, in his article on the message of Lord Mahāvira, has dwelt on some of the philosophical and moral tenets of Mahāvira. Dr. A. M Ghatage has explained the title Mūlasūtra after taking into account the views of various scholars; and his conclusion runs thus "the expression Mūlasūtra 'sūtra texts to be studied at the beginning of the svādhyāya' referred to the Āvaśyaka formulae, the expression Mūlādhyayana referred to the first group of adhyayanas now forming the Daśavaikālika and the next thirty six chapters got the name Uttarādhyayana. Later on, however, the first name was extended to cover the three books together and still later a fourth book was added, which was either the Piṇḍaniryukti or the Oghaniryukti.' Mr. Jagannath has given some glimpses of Jainism in the Gupta age during the 4th and the 5th Centuries A. D. Mr. M D Desai has presented the English rendering of some four Farmans granted by Akbar to the Jainas Mr P. K Gode has disucssed the date of Nātyadarpaṇa of Rāmacandra which he puts between A D. 1150 and 1170. Dr. Sarup has made an earnest appeal to the Jainas 'that the scattered Jaina Bhaṇḍāras should be saved from destruction. Their price cannot be determined in terms of rupees. They are simply invaluable' We request the leaders of the Jaina Community to pay due attention to this timely warning of an eminent orientalist of the standing of Dr. Sarup Dr Hiranand Shastri has duly appreciated the literary heritage which the Jaina monks have left to posterity. In the Hindi section Śrī Vijayavallabha Surīśvaraji has explained OM according to Jainism. Śri Amarachandraji has added a few stray remarks on the life of Mahāvira. Śri Ātmārāmaji has noted some common passages between the Jaina and Buddhistic texts. Pt. Becharadas Doshi has an interesting note on the various names of Mahāvira and their explanation. Lastly Śri Kāntisāgaraji has published an old Gajal which gives interesting information about Lahore.

We heartily welcome the Jaina Vidyā, and we feel confident that it has a bright future under the able editorship of Dr Banarasidas

A. N. UPADHYE.

VEERSHAIVA WELTANSCHAUUNG—by Sri Kumarswamiji B A, published by V R Koppal, M A B T, Navakalyanamath, Dharwar

The brochure under review comprises a lecture delivered on Veerashaivism by Sri Kumarswamiji, B A, a young, learned saint and thinker at Adyar in December 1940 The revival of Veerashaivism, as this great scholar points out, goes back to the 12th century The torch of high philosophic ideals tracing the relation of Spirit and Matter to the great Transcendent Almighty that rules the universe lit by Sri Basava the Prime Minister to a Jain king in those far off days, was handed down to Veerashaiva mystics who, God intoxicated as they were enlightened all who came in contact with them and have to their credit sayings that in depth of thought and scholarly expositions are compared by great scholars to the Upanishads themselves

Veershaivism considered to be a phase of the Agamanta and said to be associated Sakti Visishtadvaita has been fully discussed by the learned speaker Herein he has disclosed a rare grasp and comparative study of the Eastern as well as Western philosophy The basic principles of great thinkers of the west like Bergson William James Hegel Schopenhaur and others have been mentioned and discussed to throw light on the tenets of Veerashaivism A Spiritual unification of spirit and matter with the Great Lord above has been dwelt upon In short, the ultimate truth of all truths—the basis or rather the end of all religious consciousness—the great Divine Power behind the universe—permeates the metaphysic of this learned lecture

RAJENDRA PRASAD

DESCRIPTIVE CATALOGUE OF MANUSCRIPTS in the Government Manuscripts Library Poona—Published under the supervision of the Manuscripts Department of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 1936—Volume XVII, Parts 1 2 and 3 (Jain Literature & Philosophy) Price Rs 4/ each part Compiled by Hiralal R Kapadia M A

Within nearly a thousand years the deep learning and assiduous devotion of the great intellectuals of old coming within the fold of

Jainism helped the growth of Jain Canonical literature beyond expectation and even reasonable bounds of the possibility of easy study This literature mainly relates to the Svetāmbaras The Digambaras believe all Jain *Āgamas* to have been lost beyond all hope of recovery Most of the precious ancient literature of India perished as the result of the ravages of the vicious marauders of the middle ages. But the zealous care and devoted vigilence of the Jain ascetics saved the Jain literature from the usual gruesome fate They secretly preserved their literary treasure in the underground archives of their monasteries where the rapacious instinct of the vile destroyers could not penetrate As a result of this seclusiveness, even up to 1880 all the Jain literature remained unknown and inaccessible to all except a small circle of *Jain Āchāryas* It is said that even now the wardens of Jain libraries and Bhandāras strictly maintain the secrecy of their keep Some tourists deputed by Government towards the end of the last century brought to light many a treasure of Jain literature Many of these have been given over now to the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. The first descriptive Catalogue of Jain literature was brought out by the State of Baroda

The Descriptive Catalogues under review exhibit a marvellous collection which is now accessible to public, subject to the rules of the Institute These catalogues owe their excellence to the deep learning and ardent devotion of Mr Hiralal R Kapadia, M A Harein is given all necessary information in the form of short but adequate description, complete in itself, of all the manuscripts stored in the institute One may have a good introduction to the manuscripts themselves through the learned references inserted by the compiler. The appendices contain notes and charts that are likely to be very helpful to the study of the original manuscripts. In short these catalogues pave an easy way to the study and research of Jain literary history

RAJENDRA PRASAD

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VII, 1941

Edited by

Prof Hiralal Jaina M A LL.B
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamta Prasad Jaina M R A S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.

RULES.

1 The 'Jaina Antiquary is an Anglo half yearly Journal which is issued in two parts, i.e., in June and December

2 The inland subscription is Rs 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara) and foreign subscription is 4s 6d per annum, payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1 8 0

3 Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager 'Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology, iconography epigraphy, numismatics religion literature philosophy, ethnology, folklore etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles notes, etc, type-written, and addressed to K P Jain Esq, M R A S, Editor, 'Jaina Antiquary Aliganj Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles notes etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN, M A. LL.B
Prof A N UPADHYE, M A, D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN, M R A.S.
Pt K BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ...

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. ..

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह (प्रथम भाग)—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ॥।)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ॥।)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ॥।)

(७) भवन के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(८) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ॥।)

(९) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ... [

(१०) " २य भाग .. .. ४)

(११) " ३य भाग ... ... ४)

(१२) " ४र्थ भाग ... ... ४)

(१३) " ५म भाग ... ... ४)

(१४) " ६म भाग ... ... ४)

(१५) " ७म भाग ... ... ३)

(१६) " ८म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ८ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol VII No 1

Edited by

Prof Hiralal Jain M A, LLB
Prof A N Upadhye M A D Litt
B Kamata Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri Vidyabhushana

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR INDIA

JUNE, 1941

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं। मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते मे परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र मे अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम ए, एल एल बी.

प्रोफेसर ए. एन उपाध्ये, एम ए, डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम आर ए एस

पण्डित के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये एम ए; डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद एम आर ए एस
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

विक्रम संवत् १९९८

विषय-सूची

ग्रन्थमाला विभाग

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ८	जून १९४१। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६७	किरण १

जैन-पुराण

(१)

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जिस प्रकार हिन्दू पुराणों में हिन्दू देवदेवियों की आख्यायिका, माहात्म्य और पालनीय धर्म आदि का विशद उल्लेख मिलता है, उसी प्रकार जैनपुराणों में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण (अर्द्धचक्रवर्ती), ९ प्रतिनारायण इस प्रकार ६३ महापुरुषों की आख्यायिका, पालनीय धर्म और व्यवस्थादि का विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। उपर्युक्त तीर्थंकरों के पुराण में बहुतसे पुराण स्वतन्त्ररूप में और बहुतसे संग्रहरूप में अन्यान्य मान्य आचार्यों एवं कवियों के द्वारा भिन्न भिन्न भाषाओं में आकर्षकढंग से रचे गये हैं। तीर्थंकरों के नामानुयायी पुराणों के मध्य शेष चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि शलाकापुरुषों का भी वर्णन आ जाता है। इसलिये कोई कोई चौबीस पुराणों को ही प्रधान मानते हैं। हिन्दुओं के चिरपरिचित ऋषभ, राम कृष्ण नामक अवतार भरत, सगर चक्रवर्ती आदि का भी जैनपुराणों में यथेष्ट परिचय मिलता है। जैनतीर्थंकरों में महात्मा बुद्ध के समकालीन भगवान् महावीर और आप से १५० वर्ष पूर्व अवतरित भगवान् पार्श्वनाथ ये दो ऐतिहासिक एवं इनसे पहले के शेष २२ तीर्थंकर पौराणिक व्यक्ति माने जाते हैं।

भगवज्जिनसेन पुरातन को ही पुराण मानते हैं।* जिस प्रकार हिन्दुओं में ब्रह्मा अथवा नारायण से आदिपुराण की उत्पत्ति मानी गयी है, उसी प्रकार जैन भी अपने तीर्थंकरों से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। रविषेण विरचित पद्मपुराण में लिखा है—पहले भगवान महावीर ने अपने गणधर इन्द्रभूति से यह पुराण कहा था। पीछे इन्द्रभूति से सुधर्म ने, सुधर्म

*—"पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात्।"

से जम्बूस्वामी ने, जम्बूस्वामी से प्रभव ने, प्रभव से शिष्यक्रमानुसार कीर्ति ने और कीर्ति से अनुत्तरवाग्मी ने यह पुराण प्राप्त किया। अनुत्तरवाग्मी के निकट रविषेण ने जो ग्रन्थ पाया था, उसी की सहायता से उन्होंने पद्मपुराण की रचना की। इसी प्रकार अपरापर जैन पौराणिकों ने भी पुराणों की प्राचीनता-संस्थापन के लिये भगवान् महावीर को ही पुराणवक्ता माना है। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दूसमाज के समान जैनसमाज में भी अति प्राचीनकाल से पुराणाख्यान प्रचलित था। इसके लिये असग, अग्गल, आचण्ण, कर्णपार्य, कमलभव, कृष्णदास, केशवसेन, गुणभद्र, गुणवर्म, चन्द्रकीर्त्ति, चन्द्रसागर, जन्न, जिनसेन (प्रथम) जिनसेन (द्वितीय), जिनदास, जिनेन्द्रभूषण, दामोदर, देवप्रभ, दोड्डय्य, दोड्डणांक, धर्मकीर्त्ति, नरसेन, नागदेव, नागचन्द्र, नेमिदत्त, नेमिचन्द्र, पप, पोन्न, पुष्पदन्त, पार्श्व पण्डित, नन्दिषेण महाबल, मंगरस, मधुर, यशःकीर्त्ति, रविषेण, रन्न, विश्वभूषण, शान्तिकीर्त्ति, शुभचन्द्र श्रीविजय, श्रीभूषण, श्रीधर, श्रुतकीर्त्ति, सकलकीर्त्ति, सुरेन्द्रभूषण, स्वयंभू, हरिषेण, हस्तिमल्ल आदि सैकड़ों महान् आचार्यों एवं कवियों के द्वारा प्राकृत, संस्कृत तथा कन्नड आदि भाषाओं में रचे गये पुराणग्रन्थ ही उज्ज्वल प्रमाण हैं।*

दिगम्बर-जैनसम्प्रदाय के उपलब्ध पुराणों में पद्मपुराण या पद्मचरित सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। अब तक इसके पहले का कोई भी कथाग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। भावनगर की जैनधर्मप्रसारक सभा ने जो 'पउमचरिय' नाम का प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित किया है, वह इससे अवश्य बहुत पहले का है। किन्तु अभी तक यह बात विवादग्रस्त ही है कि इसके कर्ता दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे या श्वेताम्बर के। पद्मचरित भगवान् महावीर के निर्वाण के १२०३ वर्ष बाद (ई० स० ६७८) रचा गया था।† पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ (ई० स० ७८३) में अर्थात् पद्मचरित से लगभग ५ वर्ष पीछे समाप्त हुआ है।‡ इस हिसाब से छठी शताब्दी में दिगम्बरों के मध्य पुराण प्रचलित था, इसमें सन्देह नहीं है। रविषेण का पद्म (राम) पुराण, भगवज्जिनसेन का आदिपुराण, पुन्नाट-जिनसेन का हरिवंश या अरिष्टनेमिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और शुभचन्द्र का

*—यहां पौराणिकों के जो नाम दिये गये हैं, वे कालक्रम से नहीं, किन्तु अकारादिक्रम से।

†—द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्॥

‡—शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥

पाण्डवपुराण प्रधानत इन पाच पुराणो का पाठ करने से ही दिगम्बर जैनियों का पौराणिक तत्त्व जाना जा सकता है।

कथानियों को अलग कर देने पर चौबीसों तीर्थंकरों की जीवनी एकसी मालूम पडेगी। ऋषभ तीर्थंकर की जीवनी पढ़ने के पश्चात् शेष २३ तीर्थंकरों के मातापिता, वंश, जन्मस्थान, नाम, शरीर की ऊंचाई शरीर का वर्ण, आयु, चिह्न, जन्मादिनक्षत्र, गणधरसंख्या और निर्वाणस्थान आदि छोटी मोटी बातो को सम्बद्ध कर देने से उन तीर्थंकरों की जीवनी उपलब्ध हो जाती है। जैसे—तीर्थंकर का जीव अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ पुण्यकर्म के परिपाक से तीर्थंकर नामक एक विशिष्ट 'नामकर्म' को पाकर स्वर्ग में जन्म लेता है। वह जीव जहा जिस महारानी के गर्भ में जन्म लेने वाला है, उस राज्य में छ मास के पहले से ही तीनों काल छ मास तक कुबेर इन्द्र की आज्ञा से रत्नों की वर्षा करता है। छ मास के बाद तीर्थंकर की भावी माता के गर्भशोधनार्थ इन्द्र श्री, ह्री धृति, कीर्ति आदि देवियों को भेजता है। तीर्थंकर की माता गज, वृषभ आदि सोलह शुभ स्वप्न देखती हैं। उनके गर्भ में तीर्थंकर का अवतार होता है। इन्द्र समस्त देवनिकाय के साथ आकर तीर्थंकर के अवतार या गर्भकल्याण को समारोह से सम्पन्न करता है। ९ महीने के अनन्तर तीर्थंकर मति, श्रुति, अवधि नामक त्रिविध ज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। इन्द्र इन्द्राणी से जिनबालक को मंगाकर अन्य इन्द्र एव देवनिकाय के साथ बड़े सम्भ्रम से मेरुशिखर पर जन्मकल्याण को पूर्ण करता है। जिनबालक यौवन को पार कर विरक्ति से गृहत्याग करते समय उन्हें पूर्ववत् इन्द्र उत्साह से परिनिष्क्रमणकल्याण पूरा करता है। तीर्थंकर कुछ समय तक तपस्या कर 'मन पर्यय' नामक चतुर्थ विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करते हैं। उनके प्रथम आहार के समय 'पञ्चाश्चर्य' होते हैं। तीव्र तपस्या के द्वारा कर्मों को भस्म कर वह केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व को पा लेते हैं। इन्द्र ठाट से केवलज्ञानकल्याण को मनाता है। कुबेर इन्द्र की आज्ञा से समवसरण सभा की रचना करता है। तीर्थंकर धर्मोपदेशार्थ विहार करते हुये अन्त में मुक्ति प्राप्त करते हैं। इन्द्र उनके निर्वाणकल्याण को सानन्द सम्पन्न करता है।

इस प्रकार जैसे तीर्थंकरों के चरित्र एक टाइप के हैं, वैसे ही चक्रवर्तियों के चरित्र एक मेल के हैं। प्राय नारायण, वासुदेव और प्रतिवासुदेवों के चरित्र भी इसी तरह के हैं। पुराणों के हृदय को कथा और वर्णन के भेद से हम दो भागों में बाट सकते हैं। कथा में तीर्थंकरों की भवावली, उनके पञ्चकल्याण और तत्कालीन चक्रवर्ती, नारायण आदिक की कथा गर्भित रहना इष्ट है। इन तीनों में भवावली और पञ्चकल्याण पुराणों के खास अङ्ग हैं। हा, तीसरा वैकल्पिक है। वर्णन में पुराण के अष्ट अङ्ग एव अष्टादश वर्णन ये दो ही शामिल

हैं। कवि केवल वर्णन मे अपनी स्वतन्त्रता दिखा सकता है, कथा मे नहीं। इसलिये ग्रन्थवृद्धि में कवि को सिर्फ वर्णन ही सहायक है।*

जैनपुराणो की जन्मान्तर-कथायें पाठकों के मन में कुछ अरुचि पैदा करतीं हैं अवश्य। परन्तु पुराणों का सार भाग ये ही जन्मान्तरकथायें है। क्योंकि तीर्थंकरों के आदर्श चरित्र को जानने के लिये उनके पुराण ही एकमात्र साधन हैं। इनमे पञ्चकल्याणों का वर्णन सभी तीर्थंकरों को सभो पुराणों मे एकसा मिलेगा। किन्तु उनके पूर्वजन्म की कथायें मात्र प्रत्येक की भिन्न भिन्न हैं। वास्तव मे ये कथायें तीर्थंकरों के जीवनचरित्र नही हैं। बल्कि साधारण जनता को जैनधर्म के रहस्य को समझाने वाले सुन्दर दृष्टान्त हैं। इन पुराणों का सार अंश निम्न प्रकार है—

कर्म के संवंध से जीव अनादिकाल से नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव इन चतुर्गतियों मे भ्रमण करता रहता हैं। इन गतियों मे अपने संचित कर्म के अनुसार सुख या दुःख को भोगना ही इसका एकमात्र काम है। हां, उक्त इन मनुष्यादि गतियों मे सुख दुःखो की मात्रा मे तरतम-भाव है अवश्य। अर्थात् जीव को अल्प पाप से तिर्यग्गति, अधिक पाप से नरकगति, अल्प पुण्य से मनुष्यगति अधिक पुण्य से देवगति नसीब होती है। यही जीव जब सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को प्राप्त कर लेता है, तब अपने को उज्ज्वल तथा उन्नत वनाता हुआ अपनी स्वाभाविक गति की ओर कदम बढ़ाता है। अन्त मे मनुष्यगति को पाकर वहां पर अनादि से अपने को सताने वाले ज्ञानावरणादि उन आठों कर्मों को समूल नष्ट कर अनश्वर कैवल्यसुख को पा लेता है। वह लौट कर दुःखमय इस संसार मे फिर कभी नहीं आता। जैनपुराणों का यही सार है। इन्हीं बातों को भिन्न-भिन्न दृष्टान्तो के द्वारा सुन्दर ढंग से आकर्षक शैली मे जैनपुराण सर्वसाधारण जनता को समझाते हैं। जैन पौराणिकों ने विशेषतः अपने जीवन मे प्रतिदिन अनुभव मे आने वाली बातों को ही चित्रित करने का प्रयास किया हैं। इसलिये उनमे सत्य और सौन्दर्य दोनों हैं। सफेद बाल या मेघ आदि को देखकर विरक्ति को प्राप्त होना साधारण जनता के लिये एक अनोखी बात मालूम हो सकती है। परन्तु जैनियों के लिये यह एक स्वाभाविक बात है। धार्मिक भावना की प्रचुरता ही इसका प्रधान हेतु है।†

कन्नड-कवि-सार्वभौम पंप के मत से (१) लोकाकारकथन (२) देशनिवेशोपदेश (३) नगरसम्पत्परिवर्णन (४) राज्यरमणीयकाख्यान (५) तीर्थमहिमासमर्थन (६) चतुर्गति-

* देखें—जी० पी० राजरत्नम् एम० ए० का 'कन्नड जैन पुराणगलु' शीर्षक कन्नड लेख।

† देखें—'जयकर्नाटक' वर्ष १६, अङ्क १ में प्रकाशित प्रो० के० जी० कुन्दणगार का 'जैन साहित्यद वैशिष्ट्य' शीर्षक कन्नड लेख।

स्वरूपनिरूपण (७) तपोदानविधानवर्णन (८) तत्फलप्राप्तिप्रकटन ये ही आठ जैनपुराणों के अङ्गाग हैं। समुद्र, पर्वत, नगरादि वर्णनरूप पुराणों के अष्टादश वर्णनों का यहा पर उल्लेख करना व्यर्थ जान पड़ता है। क्योंकि ये वर्णन प्रसिद्ध हैं ही।

अब जैनपुराणों के सम्बध में श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जी जैन एम० ए० एल० एल० बी० का मत नीचे उद्धृत किया जाता है—

"जैनधर्म का सर्वमान्य इतिहास महावीरस्वामी के समय स व उससे कुछ पूर्व से प्रारभ होता है। इसके पूर्व के इतिहास क लिये एकमात्र सामग्री जैनधर्म के पुराण ग्रन्थ हैं। इन पुराण ग्रन्थों के रचनाकाल और उनमें वर्णित घटनाओं के काल मे हजारों, लाखों, करोड़ों नहीं अरबों खर्बों वर्षों का अन्तर है। अतएव उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता इस बात पर अवलम्बित है कि ये कहा तक प्राकृतिक नियमों के अनुकूल, मानवीय विवेक क अविरुद्ध व अन्य प्रमाणों के अप्रतिकूल घटनाओं का उल्लेख करते हैं। यदि ये घटनायें प्रकृति विरुद्ध हों मानवीय बुद्धि के प्रतिकूल हों व अन्य प्रमाणों से बाधित हों, तो वे धार्मिक श्रद्धा के सिवाय अन्य किसी आधार पर विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती पर यदि ये उक्त नियमों और प्रमाणों से बाधित न होती हुई पूर्वकाल का युक्ति-सगत दर्शन कराती हों तो उनकी ऐतिहासिकता में भारी सशय करने का कोई कारण नहीं हो सकता।

जिन इतिहास विशारदों ने जैनपुराणों का अध्ययन किया है उनका विश्वास उन पुराणों की निम्नलिखित तीन बातों पर प्राय नहीं जमता —१ पुराणों के अत्यन्त लम्बे चौड़े समय विभागों पर। २ पुराणों म वर्णित महापुरुषों के भारी भारी शरीर मापों पर व उनकी दीर्घातिदीर्घ आयु पर। ३ काल के परिवर्तन से भोगभूमि व कर्मभूमि की रचनाओं क विपरिवर्तन पर।

जैनपुराणों में अरबों खर्बों ही नहीं पल्य और सागरों (आधुनिक सख्यातीत) वर्षों के माप दिये गये हैं। इनको पढ़कर पाठकों की बुद्धि चकित हो जाती है और वे मट इन असभव कहकर अपने मन क बोझ को हल्का कर डालते हैं। किन्तु विषय पर निष्पक्ष, बुद्धिपूर्वक विचार करने से इन मापों में कुछ असम्भवनीयता नहीं रह जाती। यह सभी जानते हैं कि समय का न आदि है और न अन्त। वैज्ञानिक शोध और खोज ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि इस सृष्टि के आरम्भ का कोई पता नहीं है और न उसमें मनुष्य जीवन के इतिहास प्रारम्भ का ही कुछ काल निर्देश किया जा सकता है। सन १८५८ ईस्वी के पूर्व पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि इस पृथ्वी पर मनुष्य का इतिहास आदि से लेकर अब तक का पूरा पूरा ज्ञात है क्योंकि 'बाइबिल' के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व सिद्ध होती है। पर सन् १८५८ ईस्वी के पश्चात् जो भूगर्भ-

विद्यादि विषयों की खोज हुई उससे मनुष्य की उक्त समय से बहुत अधिक पूर्व तक प्राचीनता सिद्ध होती है। अब इतिहासकार ४००४ ईस्वी पूर्व से भी पूर्वकी मानवीय घटनाओं का उल्लेख करते है। मिश्रदेश की प्रसिद्ध गुम्मटो (pyramids) का निर्माण-काल ईस्वी से पांच हजार वर्ष पूर्व अनुमान किया जाता है। खाल्दिया (chaldea) देश में ईसा से छह सात हजार वर्ष पूर्व की मानवीय सभ्यता के प्रमाण मिले हैं। चीन देश को, सभ्यता भी इतनी ही व इससे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। अमेरिका देश मे पुरातत्त्व शोध के संबंध मे जो खुदाई का काम हुआ है उसका भी यही फल निकला है। हाल ही मे भारतवर्ष के पंजाब और सिन्ध प्रदेशों के 'हरप्पा' और 'मोयनजोडेरो' नामक स्थानों पर खुदाई से जो प्राचीन ध्वंसावशेष मिले हैं वे भी ईसा से आठ दस हजार वर्ष पूर्व के अनुमान किये जाते है। ये सब प्रमाण भी हमे मनुष्य के प्रारम्भिक इतिहास के कुछ भी समीप नहीं पहुंचाते। वे केवल यही सिद्ध करते हैं कि उतने प्राचीन-काल में भी मनुष्य ने अपार उन्नति कर ली थी, ऐसी उन्नति जिसके लिये उन्हे हजारो लाखों वर्षों का समय लगा होगा। अब चीन, मिश्र, खाल्दिया, इण्डिया, अमेरिका, किसी ओर भी देखिये, इतिहासकार ईसा से आठ आठ दस दस हजार वर्ष पूर्व की मानवीय सभ्यता का उल्लेख विश्वास के साथ करते है। जो समय कुछ काल पहले मनुष्य की गर्भावस्था का समझा जाता था, वह अब उसके गर्भ का नहीं, प्रौढ़ काल का सिद्ध होता है। जितनी खोज होती जाती है उतनी ही अधिक मानवीय सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध होती जाती है। कहां है अब मानवीय सभ्यता का प्रातःकाल ? इससे तो प्राचीन रोमन हमारे समसामयिकसे प्रतीत होते है, यूनान का सुवर्ण-काल कल का ही समझ पड़ता है। मिश्र के गुम्मटकारों और हम मे केवल थोड़े से दिनों का ही अन्तर पड़ा प्रतीत होता है। मनुष्य की प्रथमोत्पत्ति का अध्याय आधुनिक इतिहास ही से उड़ गया है। ऐसी अवस्था मे जैनपुराणकार मानवीय इतिहास के विषय मे यदि संख्यातीत वर्षों का उल्लेख करें तो इसमे आश्चर्य की बात ही क्या है ? इसमे कौन सी असम्भाव्यता है ? पुरातत्त्वज्ञो का अनुभव भी यही है कि मानवीय इतिहास संख्यातीत वर्षों का पुराना है।

दूसरा संशय महापुरुषो के शरीर माप और उनकी दीर्घातिदीर्घ आयु के विषय का है। जो कुछ आजकल देखा सुना जाता है उसके अनुसार सैकड़ो हजारो धनुष ऊंचे शरीर व कोड़ाकोड़ी वर्षों की आयु पर एकाएकी विश्वास नही जमता। इस विषय मे मै पाठकों का ध्यान उन भूगर्भ शास्त्र की गवेषणाओं की ओर आकर्षित करता हूं जिनमे प्राचीन काल के बड़े बड़े शरीरधारी जन्तुओं का अस्तित्व सिद्ध हुआ है। उक्त खोजो से पचास पचास साठ साठ फुट लम्बे प्राणियों के पाषाणावशेष (fossils) पाये गये हैं। इतने लम्बे कुछ

अस्थिपञ्जर भी मिले हैं।❀ जितने अधिक दीर्घकाय ये अस्थिपञ्जर व पाषाणावशेष होते हैं वे उतने ही अधिक प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वकाल में प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। धीरे धीरे उनके शरीर का ह्रास होता गया। यह ह्रास क्रम अभी भी प्रचलित है। इस नियम के अनुसार जितना अधिक प्राचीनकाल का मनुष्य होगा उसे उतना ही अधिक दीर्घकाय मानना न केवल युक्तिसंगत ही है, किन्तु आवश्यक है। प्राणीशास्त्र का यह नियम है कि जिस जीव का भारी शारीरिक परिमाण होगा उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी। प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि सूक्ष्म जीवों की आयु बहुत अल्पकाल की होती है। जन्म के थोड़े ही समय पश्चात् उनका शरीर अपने उत्कृष्ट परिमाण को पहुंच जाता है और वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। ज्यों ज्यों प्राणी का शरीर बढ़ता है उसकी आयु भी उसी के अनुसार बढ़ती जाती है। हाथी सब जीवों में बड़ा है इससे उसकी आयु भी सब जीवों में बड़ी है। वनस्पतियों में भी यही नियम है। जो वृक्ष जितना अधिक विशालकाय होता है उतने ही अधिक समय तक वह फूलता फलता है। वट वृक्ष सब वनस्पतियों में भारी होता है अतएव उसका अस्तित्व भी अन्य सब वृक्षों की अपेक्षा अधिक काल तक रहता है। अतः यह प्रकृति के नियमानुकूल व मानवीय ज्ञान और अनुभव के अविरुद्ध ही है जो जैनपुराण यह प्रतिपादित करते हैं कि प्राचीन काल के अति दीर्घकाय पुरुषों की आयु अति दीर्घ हुआ करती थी। इसके विरुद्ध यदि जैनपुराण यह कहते कि प्राचीनकाल के मनुष्य दीर्घकाय होते हुए अल्पायु हुआ करते थे, या अल्प काय होते हुए दीर्घायु हुआ करते थे तो यह प्रकृति विरुद्ध और अनुभव प्रतिकूल बात होने के कारण अविश्वसनीय कही जा सकती थी।

तीसरा शंकास्पद विषय भोगभूमि और कर्मभूमि के विपरिवर्तन का है। जैनपुराणों में कथन है कि पूर्वकाल में इसी क्षेत्र के निवासी सुख से बिना श्रम के काल यापन करते थे। उनकी सब प्रकार की आवश्यकतायें कल्पवृक्षों से ही पूरी हो जाया करती थीं। अच्छे और बुरे का कोई भेद नहीं था। पुण्य और पाप दोनों की भिन्न प्रवृत्तियां नहीं थीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई भाव नहीं था 'मेरा' और 'तेरा' ऐसा भेदभाव नहीं था। यह अवस्था

---

* स्व—अभी हाल ही में ता० ६ ११ ३१ के प्रयाग से निकलने वाले 'भारत' में अमेरिका का एक समाचार है कि वहां पर एक आदमी के पैर का चिह्न मिला है जिसकी एक अंगुली से दूसरी अंगुली की दूरी २० फीट है। यह आत्मा पांच करोड़ वर्ष का पुराना माना जाता है। जमाने में जो शरीरों की बड़ी बड़ी अवगाहना बतायी है क्या यह उसकी सत्यता का प्रत्यक्ष नमूना नहीं है? (जैनमित्र वर्ष ३३, अं० ४ पृष्ठ ३५)

❀ इस प्रकरण में यह भी जानना आवश्यक है कि प्राचीन काल में ७॥ से ८ मील का १ योजन माना जाता था।

(देखो—'हिन्दी विश्वकोष' भाग १३, पृष्ठ ६४ में 'परिमाण शब्द') —लेखक

भोगभूमि की थी। क्रमशः यह अवस्था बदली। कल्पवृक्षों का लोप हो गया। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये श्रम करना पड़ा। व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव जागृत हुआ। कृषि आदि उद्यम प्रारम्भ हुए। लेखन आदि कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ, इत्यादि। इस प्रकार कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस भोगभूमि के परिवर्तन मे कोई अस्वाभाविकता नही है। बल्कि यह आधुनिक सभ्यता का अच्छा प्रारम्भिक इतिहास है। जिन्होंने सुवर्णकाल (Golden age) के प्राकृतिक जीवन (Life according to Nature) का कुछ वर्णन पढ़ा होगा वे समझ सकते हैं कि उक्त कथन का क्या तात्पर्य हो सकता है। आधुनिक सभ्यता के प्रारम्भ-काल मे मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं को स्वच्छन्द वनजात वृक्षों की उपज से ही पूर्ण कर लिया करते थे। वस्त्रो के स्थान मे वल्कल और भोजन के लिये फलादि से तृप्त रहने वाले प्राणियों को धन-सम्पत्ति से क्या तात्पर्य ? सब में समानता का व्यवहार था। मेरे और तेरे का भेदभाव नही था। क्रमशः आधुनिक सभ्यता के आदि धुरंधरों ने नाना प्रकार के उद्यम और कलाओ का आविष्कार कर मनुष्यो को सिखाया। जैनपुराणो के अनुसार इस सभ्यता का प्रचार चौदह कुलकरों द्वारा हुआ। सब से पहले कुलकर प्रतिश्रुति ने सूर्य चन्द्र का ज्ञान मनुष्यो को कराया। इस प्रकार वे ज्योतिष शास्त्र के आदि आविष्कर्त्ता ठहरते है। उनके पीछे सम्मति, क्षेमंधरादि हुए जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान बढ़ाया, अन्य कलाओं का आविष्कार किया व सामाजिक नियम दण्ड-विधानादि नियत किये। जैन पुराणों ने इस इतिहास को यदि विचार किया जाय तो, सचमुच बहुत अच्छे प्रकार से सुरक्षित रक्खा है।"*

इस सम्बन्ध मे और एक इतिहासज्ञ विद्वान् का मन्तव्य लीजिये—"इतिहास के महत्व को भुलाकर कोई भी राष्ट्र या जाति जीवित नहीं रह सकती। जैनाचार्य इतिहास के महत्व से अवज्ञात रहे है। जैन वाङ्मय मे 'प्रथमानुयोग' का अस्तित्व इसी बात का द्योतक है। किंतु कहा जा सकता है कि कथाओ और जनश्रुतियो को वास्तविक इतिहास कैसे माना जाय ? यह शङ्का तथ्यहीन नहीं है, किंतु किसी राष्ट्र या जाति के इतिहास को प्रकट करनेवाली कथाओं और जनश्रुतियों को यदि एकदम ठुकरा दिया जाय, तो फिर उस राष्ट्र या जाति का इतिहास किस आधार से लिखा जाय ? अतएव श्रेयोमार्ग यह है कि इतिहास-विषयक कथाओं और जनश्रुतियों को तबतक अस्वीकार न करना चाहिये जबतक कि वह अन्य स्वाधीन-साक्षी—शिलालेख आदि से असत्य सिद्ध न हो जाय ! बस जैन कथाओ जनश्रुतियो या अन्य परम्परीण मान्यताओं को जैन जाति के इतिहास लिखने मे भुलाया नही जा सकता !" †

* देखें—'जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका'।
† देखें—'संक्षिप्त जैन इतिहास' द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड का प्राक्कथन।

विज्ञ इतिहास निर्माता को किसी भी राष्ट्र संबंधी शृङ्खलाबद्ध प्रामाणिक अविकल इतिहास निर्माण के लिये भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न प्रान्त के भिन्न भिन्न लेखकों के द्वारा रचे गये पुराण अथवा कथा साहित्य का आश्रय लेना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य्य है। उन पुराणों से तत्कालीन शील-स्वभाव रहन सहन रीति-रस्म, उपज नीति और आचार, आहार, सामाजिक सङ्गठन, धर्मरुचि, शासन पद्धति, दण्ड, आर्थिक स्थिति, व्यापार और उनके मार्ग, सिक्के, शिल्प और चित्रकला, सभ्यता, साहित्य प्रगति, दिनचर्या, उच्च नीच जातियों की अवस्था आदि बातों का अच्छा पता चल जाता है। इस अनिवार्य्य नियमानुसार एक सच्चे जैन इतिहासज्ञ के लिये भी जैनपुराणों का अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। तभी वह एक सर्वांगीण प्रामाणिक जैन इतिहास तैयार कर सकता है। दृष्टांत के लिये भगवज्जिनसेनकृत आदि या पूर्वपुराण को ही लीजिये। जब कोई विचारशील विद्वान् सूक्ष्मदृष्टि से उस पुराण का स्वाध्याय करता है तब तत्कालीन शील-स्वभाव, रहन-सहन, आचार व्यवहार रीति रस्म आदि सभी बातें उनके नेत्रों के सामने नाचने लगती हैं।

कुछ व्यक्तियों का खयाल है कि प्रथमानुयोग अर्थात् कथासाहित्य में वर्णित कथाओं की रूप रेखा प्रायः एक सी है। परन्तु इस संबंध में उन लोगों को समझना चाहिये कि हिंसा, असत्य, चोरी आदि महापापों से होनेवाली महती हानियों को दिखाकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि नियमों की ओर उत्तम क्षमादि दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा आदि के मूलक आत्मोन्नति की शिक्षा देना ही उन कथाओं का एकमात्र उद्देश है और उन कथाओं ने इस आदर्श उद्देश का भली भाँति निर्वाह भी किया है। कथा साहित्य पर किया जानेवाला एक आक्षेप और है। वह यह है कि समुद्र, पर्वतादि का वर्णन, प्रचुर मात्रा में शृङ्गारादि रसों का कथन आदि। इसका उत्तर यह दिया जाना अनुचित नहीं होगा कि जिस समय जैसा राष्ट्र का वातावरण रहता है, उसी वातावरण के अनुसार तत्कालीन साहित्य का निर्माण होता है। अन्यथा वह साहित्य लोकप्रिय नहीं हो सकता। जैसे आजकल राष्ट्रीय भावनोत्पादक क्रान्तिमय साहित्य को उच्च स्थान मिल रहा है, उसी प्रकार उस जमाने में पूर्वोक्त साहित्य का ही बोलबाला था। इसीलिये वीतरागी, परिग्रहरहित मुनियों को भी विवश हो ऐसे ही साहित्य का निर्माण करना अनिवार्य्य हुआ।

अस्तु, अब प्रस्तुत लेख यहीं पर समाप्त किया जाता है। दूसरे लेख में इस विषय में कुछ और प्रकाश डाला जायगा।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन. एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

गङ्गवाडि—गङ्गमण्डल ४५, ५३, १४४ आदि। गङ्गवंश के राजाओं द्वारा शासित प्रदेश। वर्तमान मैसूर राज्य का बहुभाग इसके अन्तर्गत था। इसकी सीमायें उत्तर में संभवतः कृष्णा एवं तुङ्गभद्रा नदियाँ, उत्तर-पूर्व में नोलम्बवाडि, दक्षिण में कोंगुदेश और पश्चिम मे बनवासि एवं पुन्नाडदेश (दक्षिण पश्चिमी मैसूर) तक विस्तृत थीं। इसी प्रदेश में श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने संघ-सहित विचरे थे। श्रवणबेल्गोल की गोम्मटेश्वर मूर्ति भी इसी प्रदेश में अवस्थित है। गङ्ग और होयसलवंश के राजाओं के शासनकाल में इस प्रदेश में जैनधर्म उन्नति की चरम सीमा पर था।

गङ्गवती १०६, कर्णाटक देश मे एक अच्छा नगर था। (श्रीमत्कर्णाटदेशे जयति पुरवरं गङ्गवत्याख्यमेतत् ..) यहां के माणिक्यदेव के पुत्र मायण्ण ने बेल्गोल के लिए दान दिया था।

गङ्गसमुद्र सरोवर ५६, ९२, १०६, १२४। यह सरोवर श्रवणबेल्गोल में था और शायद वहीं अबतक मौजूद है।

गङ्गसमुद्रग्राम ५३, ८८, ८९, १४४. ४८६। गङ्गवाडि का एक ग्राम, जो गोम्मटेश्वर के लिये दान किया गया था।

गुडघट्टिपुर ४०४, संभवतः मैसूरदेश में था।

गुर्जरदेश ३८, १२४, १३०, ४९१। गंगवंशी राजा मारसिंह ने राष्ट्रकूट-नरेश कृष्णराज (तृतीय) के लिये गुर्जरदेश को विजय किया था। उपरान्त होयसल नरेश वीर बल्लाल ने भी गुर्जरदेश पर अपना अधिकार जमाया था। यह देश वर्तमान गुजरात प्रतीत होता है। कहते हैं कि गुर्जर नाम की एक जाति पहले पंजाब में रहती थी। वही काठियावाड़ के उस भाग मे आ बसी, जो आजकल गुजरात कहलाता है। ह्युन्त्सांग नामक चीनी यात्री ने गुर्जरदेश को सुराष्ट्र से १८०० ली दूर उत्तर पूर्व में और उज्जैन से २८०० ली की दूरी पर उत्तर-पश्चिम में स्थित बतलाया था। ९वीं शताब्दि के शिलालेखों में गुर्जरराष्ट्र अजमेर और सांभर से उत्तर में कहा गया है। (कनिघम, एन्शियेंट जॉगरफी ऑव इंडिया, नोट, पृ० ६९७) यह उत्तरीय गुर्जरदेश का द्योतक है, क्योंकि इस समय गुर्जरदेश दो भागों मे

विभक्त हो गया था। उत्तरीय प्रदेश की राजधानी भीनमाल थी और दक्षिण गुजरात की राजधानी नादीपुरी (नादोद) थी। (बम्बई प्रांत के प्रा० जैन स्मारक पृ० १७४)

गेरुसोप्पे ९७, ९९ १००, १०२, १३४, १३५, ३३४। बम्बई प्रान्त के उत्तर कन्नड जिले में होन्नावर तालुका है। उसी में गेरसोप्पे ग्राम है। सन् १४०९ से १६१० ई० तक यहाँ पर जैनी राजाओं ने राज्य किया था। तब गेरुसोप्पे जैनधर्म का केन्द्र था। लोग कहते हैं कि उन दिनों यहाँ एक लाख घर और ८४ जिनमंदिर थे। अब भी कई मंदिर अवशेष हैं, जिनमें 'चौमुखा जिनमंदिर', 'महावीर स्वामी का मंदिर' और 'नेमिनाथ स्वामी का मंदिर' उल्लेखनीय हैं। (ब० प्रा० जै० स्मा० १३) गेरुसोप्पे के राजा और प्रजा—सभी जैनधर्म के अनन्य भक्त थे। चौदहवीं श० के मध्यकाल में यहाँ के धनिक सेठों ने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग दान धर्म में देकर किया था। तभी से गेरुसोप्पे का नाम धर्मक्षेत्र में चमक गया। तब यह नगर तुलुवदेश में गिना जाता था। इसके शासक भी तुलुवन्देश के निवासी थे। 'वर्द्धमानबसदि' के शिलालेख में गेरुसोप्पे को नगरीन्देश का मुकुटेश्वर कहा है। यहाँ के प्रख्यात प्रमुख जैन नेता रामण थे। वह सोमण दण्डनायक के पुत्र थे। उनके भाई कामण दण्डनायक थे। तुलुवन्देशान्तर्गत चदावुर में एक बसवदेव राजा राज्य करते थे। सोमण उन्हीं के सेनापतियों में से एक थे। सोमण एवं उनके पुत्र रामण क्षत्रियकुलोत्पन्न थे। इस लेख में यहाँ के अधिवासियों को 'जैनमार्ग जलनिधि-सम्वर्द्धित पूर्ण चन्द्र' बताया है। इन्हीं में एक होन्नपसेट्टि भी थे जो रामण के रिश्तेदार थे। होन्नपसेट्टि ने वर्द्धमानबसदि के लिए दान किया था। गेरुसोप्पे में योजनसेट्टि भी प्रसिद्ध थे। इनकी पत्नी रामक ने अनन्त तीर्थ चैत्यालय निर्मापित कराया था। अपने सद्गुणों के लिये यह महिला प्रसिद्ध थीं और निरन्तर चतुर्विध दान दिया करती थीं। सन १३९२ में उनकी मृत्यु होने पर उनकी निषधि वर्द्धमानबसदि के पास बनाई गई थी। चौदहवीं शताब्दि के अंतिम पाद में गेरुसोप्पे के दो श्रेष्ठिपुत्र (१) अजण और (२) कल्लपश्रेष्ठी प्रसिद्ध थे। अजण कल्लपश्रेष्ठी के पुत्र थे। उनकी माता का नाम मामाम्बा था और कल्लपश्रेष्ठी के पिता ओजण थे। पनशोगवलि देशीगण के म० ललितकीर्ति के शिष्य देवेन्द्र सूरि इनके गुरु थे। इन श्रेष्ठियों ने नगरकेरिबसदि में मूडेजिन (!) की प्रतिमा निर्मित करा कर स्थापित की थी। १५ वीं श० के आरम्भ में गेरुसोप्पे की रानी शान्तलदेवी थीं। वह बोम्मणसेट्टि की पुत्री था। उनके पति का नाम देवण्णरस था। देवण्णरस के पिता मंगराज नरेश थे। शान्तलदेवी जैनधर्म की परम श्रद्धालु रमणी रत्न थीं। उन्होंने सन् १४०५ के लगभग समाधिमरण किया था। मंगराज के बहनोई पद्मण्णरस थे जिन्होंने पार्श्वनाथ भगवान् की पूजा और मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था। यह दान उन्होंने अपनी स्वर्गवासी रानी तनादेवी के शांतिलाभ के लिए

दिया था। सन् १५२३ ई० में गेरुसोप्पे के उल्लेखनीय शासक इम्मडि देवराय ओडेयर थे। वह भैरवाम्बा के पुत्र थे। इनके पिता पाण्ड्यराज थे। यह राजा जनप्रिय देवभूप नाम से प्रसिद्ध थे। शिलालेख में इन्हे नगरी (अर्थात् गेरुसोप्पे), हैव, तुलु कोङ्कण आदि राज्यों का शासक लिखा है। इन्होंने सन् १५२३ में लक्ष्मणेश्वर की शंख जिनवस्ति के लिए भूमिदान दिया था। एक शिलालेख में देवराय को क्षेमपुर पर राज्य करते हुए बताया गया है, जिससे प्रकट है कि गेरुसोप्पे का अपर नाम क्षेमपुर भी था। गोवर्द्धनगिरि के शिलालेख में गेरुसोप्पे और उसके निवासियों का विशेष वर्णन मिलता है। जैनधर्मपरायण वहाँ के अधिवासियों ने गेरुसोप्पे को समृद्धिशाली और सुन्दर बना दिया था। उस शिलालेख में लिखा है कि "महापद्मरूप जम्बूद्वीप के दक्षिणपार्श्व में भरतक्षेत्र है। इस भरतक्षेत्र में पश्चिमीय समुद्र के पूर्वीय तट पर विशाल तौलवदेश है। उस देश की अम्बूनदी के दक्षिण किनारे पर श्रीपुंड्र की तरह चमकता हुआ क्षेमपुर है। यह क्षेमपुर मानो इन्द्र का दूसरा नगर है। उसमें चमचमाते गोपुर, सुन्दर जिनालय, योगिजनों के आवास, राजाओं के महल और वणिकों की गृहपंक्तियाँ अतीव शोभा पाती हैं। उस क्षेमपुर में जनसमूह निरन्तर दान और धर्म की आराधना में लीन रहता है। वहाँ गुरु और यतियों के संघ विराजमान हैं—कविगणों, विद्वानों और असंख्य भव्योत्तमों से वह नगर भरपूर है। भला बताओ तो गेरुसोप्पे के समान संसार में कौन-सा नगर भुवन-विख्यात है?" निस्सन्देह आज भी हम कह सकते हैं कि गेरुसोप्पे की समता करना प्रत्येक नगर के लिये सुगम नहीं है। राजा इम्मडि देवराय ने यहाँ पर शान्तिनाथ भगवान् की वह प्रतिमा निर्मित कराई थी, जो आजकल मद्रास-म्युज़ियम में रक्खी हुई है। इस मूर्तिलेख से प्रकट है कि राजा देवराय एक महान् साहित्य-रसिक भी थे। इन राजा को अपने राजश्रेष्ठी अम्बवन पर बड़ा गर्व था। अम्बवन के पूर्वज कामेय दंडनायक चंदावुरु के राजा, कामदेव के सेनापति थे, उन्हीं दंडनायक की सन्तति में अम्बवन से पहले योजनश्रेष्ठी, नरसन नायक, मावु गौड़ और योजनश्रेष्ठी (द्वितीय) उल्लेखनीय हुए हैं। गेरुसोप्पे में योजनश्रेष्ठी ने अनन्तनाथ जिनालय बनवाया था, नरसन ने मागोडु में पार्श्वनाथेश्वरवस्ति निर्माण कराई थी; मावु ने बन्कन-वलिलु में एक चैत्यालय बनवाया था और योजनश्रेष्ठी (द्वि०) ने गेरुसोप्पे में नेमीश्वर का दो-मंजिला चैत्यालय निर्मित कराया था। इन्हीं के एक रिश्तेदार भट्टकल के सेट्टियों में सिरमौर प्रसिद्ध कव्वाधिकारी (?) थे, जिन्होंने भी एक चैत्यालय बनवा कर पुण्य-संचय किया था। अम्बवन सेट्टि के पिता नागप्पश्रेष्ठी द्वि० थे। इनका ननिहाल योजनश्रेष्ठी के यहाँ थी। अम्बवन की पत्नी देवरसि भी उन्हीं की तरह धर्मात्मा थी। एक दिन यह दम्पत्ति जिनवंदना के लिये गेरुसोप्पे के नेमिजिनचैत्यालय में गए। वहाँ उन्होंने अभिनव समन्तभद्र मुनि से धर्म का स्वरूप सुना। उसी समय उन्होंने यह निश्चित किया कि वे अपने पितामह, योजनश्रेष्ठी,

द्वारा निर्मित नेमीश्वरबस्ति के समक्ष एक मानस्तम्भ बनवा कर पुण्योपार्जन करेंगे। वे घर गये और अपने भाइयों, कोटणसेट्टि और मल्लिसेट्टि, एवं अन्य सम्बंधियों से परामर्श किया। तब उन्होंने अपनी इच्छा देवराय भूप पर प्रकट की। देवभूप ने उनकी इच्छा को सराहा और सधर्महित आज्ञा दी। एक शुभ दिन को उस पुण्यकार्य का मुहूर्त हुआ और नियतकाल में धातु का मानस्तम्भ बनवा कर अम्बवनसेट्टि ने अपनी अभिलाषा पूर्ण की। देवरसि से उनके दो पुत्रियाँ हुई। एक का नाम पद्मरसि व दूसरी का देवरसि रक्खा गया। जिस दिन यह युगल कन्यायें पैदा हुई उसी दिन शुभ योग जान कर वह धातुमय मानस्तम्भ चैत्यालय के सम्मुख स्थापित किया गया। मानस्तम्भ पर उन्होंने कन्याओं के कद के बराबर ऊँचे सुवर्णकलश भी चढाये। लेख में इस मानस्तम्भ को धर्मनौका के लिये पतवार बताया है और धर्मरूपी छत्र का दण्ड कहा है। अभिनव समन्तभद्रमुनि के उपदेश से यह बनाया गया था। अम्बवनश्रेष्ठी प्रभृति जैनी श्रावकों द्वारा उस समय जिनधर्म की महत्ता सर्वोपरि स्थापित की गई थी। मालूम होता है, वैष्णवमत के श्रेष्ठियों से इनकी स्पर्द्धा चलती थी। परन्तु १६ वीं शताब्दि के मध्य में जैन धनिकवर्ग गेरुसोप्पे में अत्यधिक प्रभावशाली मिलता है। श्रवणबेल्गोल का गेरुसोप्पे से पुराना सम्बन्ध रहा है। वहाँ के शिलालेख भी गेरुसोप्पे में जैनधर्म की प्रभावना को स्पष्ट करते हैं। सन १४१२ ई० में गेरुसोप्पे के गुम्मटण श्रावक श्रवणबेलगोल को श्री गुम्मटनाथ के दर्शन करने के लिये गये थे। वहाँ उन्होंने कई मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था और आहारदान की व्यवस्था की थी। सन् १५३९ ई० में ऐसे ही चार उदाहरण मिलते हैं। इनमें विशेषता यह है कि गेरुसोप्पे के चवुडि आदि श्रेष्ठियों का रुपया कम्मय्य प्रभृति लोगों पर चाहिये था, वह इतने धर्मात्मा थे कि उन्होंने अपना कर्ज माफ करके उनसे कहा कि वह उस रुपये को धर्म कार्य में व्यय कर दें। इन कर्जदारों में एक माली भी था, उसने भी दान दिया था। यह दान सम्भवतः उस हर्षोत्सव में कराये गये होंगे, जिसका अनुभव गेरुसोप्पे के जैनियों को उस समय हुआ होगा, जब उनके राजा इम्मडि भैरवराय ने श्रवणबेल्गोलस्थ गोम्मटेश्वर का महामस्तकाभिषेकोत्सव कराया था। यह अभिषेक सम्भवतः सन् १५३९ ई० में कभी सम्पन्न हुआ था। अपने हर्ष को प्रकट करने के लिये ही गेरुसोप्पे के चवुडिश्रेष्ठि ने श्रवणबेलगोल के अपने कर्जदारों पर रुपया माफ करके उसे धर्म में लगवाया था। गरज यह कि गेरुसोप्पे के श्रावक—राजा और सेठ—सभी जैनधर्म प्रभावना के लिये उद्यमशील रहते थे। वह धर्मवीर और दानवीर थे। उनमें और सामन्त क्षत्रिय थे और श्रेष्ठी लोग वणिक् थे, परन्तु फिर भी उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होते थे। वे सब ही गेरुसोप्पे को जैनधर्म का सुदृढ 'गढ' बनाने में रत रहते थे। वहाँ की महिलायें उनके इस उत्साह को खूब ही बढाती थीं। श्रावकों के समान ही गेरुसोप्पे

के जैनगुरु की प्रख्याति और प्रभावशाली थे। जनसाधारण में वह धर्म-द्रव्य में अधिक सम्पत्तिशाली होने के लिए भी प्रसिद्ध थे। गेरुसोप्पे के श्रीगुणभद्रदेव के शिष्य श्रीवीरसेनदेव ने सन् १५८३ ई० मे रानिवास के सरदार चेन्नवीर ओडेयर से ३२ वराह मूल्य का एक खेत खरीदा था। इन्होंने ही सन् १५८५ ई० में भी दो खेत और इन्हीं सरदार से खरीदे थे। यह खेत क्यों खरीदे गये, यद्यपि इसका उत्तर स्पष्ट नहीं है, परंतु अनुमान यही है कि जिनमन्दिरों की पूजा और दानशाला के खर्चे की पूर्ति के लिये यह खेत खरीदे गये थे। उस समय मन्दिरों की व्यवस्था का भार जैनाचार्यों पर आ पड़ा था—वे ही मन्दिरों के सर्वेसर्वा प्रकट होते हैं। इन आचार्यों के अपने गण होते थे और उनमें दिगम्बर साधुओं के साथ धर्मचर्चा हुआ करती थी। गेरुसोप्पे के मुनिगण योगागम की चर्चा करते एक लेख में बताये गये हैं। वादिभकेसरी विद्यानन्द स्वामी ने उन मुनियों के समूह में जाकर धर्मचर्चा में विशेष भाग लिया था, मानों वह उनके गुरु ही थे। विजयनगर साम्राज्य-काल में वादी विद्यानन्द अपने सानी के एक ही गुरु थे। गरज यह कि गेरुसोप्पे अपने समय में हर तरह से एक जैनकेन्द्र था। आज भी वहाँ पर चार दर्शनीय जैनमन्दिर अपने पूर्व वैभव को बतलाने के लिए शेष हैं। (देखो—मेडियावेल जैनिज्म, पृ० ३३९—३५० और ३७२)।

गोणूर ३८ ; मारसिंह ने यह नगर जीता था।

गोदावरी नदी ५९ ; दक्षिणभारत की नदी।

गोम्मटपुर या गोम्मटतीर्थ ९२, १२८, १३७, १३८, ४८६, २२६, श्रवणबेलगोल का अपर नाम।

गोल्लदेश ४०, ४७, ५०, इस देश के राजा गोल्लाचार्य्य नामक दि० मुनिराज हुए थे। (गोल्लाचार्य इति प्रसिद्ध-मुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिप. ।)

गोविन्दवाडि २४, ५३, ४८९ ; श्रवणबेलगोल के पास था।

गौड या गौल देश, १२४, १३०, १३८, ४९१ ; होय्सल वंश के राजाओं ने इस देश को जीता था।

घट्टकवाद, १३८, विष्णुवर्द्धन होय्सलनरेश ने इस नगर को नष्ट किया था।

चक्रगोट्ट दुर्ग ५३, ५६, १३८, होय्सलनरेश विष्णु व नरसिंह ने इसे भस्म किया था।

चामगट्ट १२४, चंद्रमौलि मंत्रिवर ने जो ग्राम दान दिया था, उसकी सीमा मे यह भी एक ग्राम था।

चिकूर १६२, यहां के सर्वनन्दी व वसुदेव मुनि प्रसिद्ध थे।

चिक्कबेट्ट ४११, श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर्वत का कन्नड नाम है।

चिक्कदेवराजकल्याणिकुमाड, ८३ श्रवणबेल्गोल का कुड है।

चिसूर २ अदयरनाडु (राष्ट्र) में था जहाँ मौनिगुरु की शिष्या नागमति ने ममाधिमरण किया था।

चेङ्गिरिगुग ५३, १३८, १४४, ४९२, होयसल राजाओं ने इस पर अधिकार किया था।

चेरदेश ३८, १३८, होय्सलनरेश नरसिंह ने यह देश जाता था। चेरवश के राजाओं द्वारा अधिकृत देश 'चेरदेश' था। अशोक के लेखों में इस वश क राजो का उल्लेख 'केरलपुत्र' के नाम से हुआ है। यह पाड्यदेश के उत्तर में था। यूनानी लेखकों ने इसका उल्लेख 'चेरेयोथ्र' नाम से किया है। यह देश पाघाट के आरपार सेलम व कोयम्बुतूर जिलों में फैला हुआ था। दूसरी शताब्दि में इसके चार भाग थे, (१) अरयम् (२) परम्बुनाडु (३) अजी (४) कोल्लिमलय। मदुरा (पाण्डदेश) से एक बडी सडक चेरदेश को आई थी। हयुन्त्साग के समय में चेरदेश पर पाड्यनरेश का अधिकार था।

चोलदेश ३८, ८१, ९०, १२४, २३०, ३६०, ४८६, ४९१, ४ ९, ५००, होयसलनरेशों ने इस देश पर कई दफे अधिकार किया था। लेख न० ८१ म होय्सल नरेश वीरनरसिंहदेव "चोलराज्य प्रतिष्ठाचार्य्य" कहे गए हैं। इसी देश के राजराज 'कोङ्गाल्व' नरेश जैन धर्मानुयायी थे। अशोक के लेखों में चोलदेश का उल्लेख हुआ है। कृष्णानदी के मुहाने से पूर्वतट के आगे दक्षिण होलिदेश (रामनद जिमींदारी) तक यह देश फैला हुआ था। उरगपुर उसकी राजधानी थी, जो वर्तमान की त्रिचनापल्लि है। पुहर (कावेरीपट्टण) और काचि भी इस देश के प्रमुख नगर थे।

चोलेनहल्लि ग्राम, १०७, गोम्मटनाथ की पूजा के लिए जो वेक नामक ग्राम मन्त्रिवर चन्द्रमौलि की पत्नी आचलदवी ने दान किया था, उसकी सीमा में यह ग्राम था।

जम्बुर ग्राम १३७, १३८, मत्री हुकराज न सवणेरु नामक ग्राम दान किया था। उसी की सीमा में यह ग्राम था।

जिननाथपुर ४०, ८३, १३१, ४६७, ४७८, यह श्रवणबेल्गोल से एक मील उत्तर की ओर है। इसे होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के सेनापति गगराज ने शक स० १०४० के लग भग बसाया था। यहाँ शान्तिनाथवस्ति शिल्पकारी का बड़ा ही सुदर नमूना है। मैसूर भर में यह मदिर दर्शनीय है। इसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता है।

जिन्नरहल्लि ग्राम, ८३, कृष्णराज ओडेयर ने इस ग्राम का दान किया था।

जीजापेट ४०४, कोई स्थान था।

ठक्कदेश ५४, सम समद्रस्वामी ने जिन देशों में वाद भेरी बजाई थी, उनमें यह भी एक था। पजाब को पहले ठक्क या टक्क कहते थ।

तच्चूरु ग्राम ४४० ; बेलोल के मठ से सम्बन्धित था।

तञ्जनगरम्—तञ्जपुरी, ४३६, ४३७, ४४१ : यह वर्तमान का तञ्जोर (Tanjore) है। शक सं० १७८० के उपर्युक्त तीनों लेखों से प्रकट है कि यहाँ के श्रावकगण श्रवणबेल्गोल की वन्दना के लिये जाते थे और वहाँ के भट्टारक म० की विनय करते थे। वहाँ उन्होंने तीर्थङ्करों की प्रतिमायें भी प्रतिष्ठित की थीं। यहाँ के श्रावक अनन्त चतुर्दशी आदि व्रत भी किय करते थे। अनन्तव्रत के उद्यापन में श्रावक शत्तिर ने वृषभादि पहले के चौदह तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराई थीं।

तट्टगेर, २४ ; यह स्थान गंगवाड़ि में था।

तरिहल्लि ग्राम, १३८ ; हुल्लराज ने जो एक ग्राम दान किया था, उसकी सीमा का ग्राम था।

तलकाडु वा तलवनपुर ४५, ५३, ५९, ९०, १२४ आदि। गंगराजाओं की राजधानी कावेरी-तट पर थी, परन्तु ११वीं श० के प्रारंभ में चोल नरेशों के अधिकार में आ जाने से गंग-राजधानी नहीं रही थी। राष्ट्रकूट-राजकुमार केम्बय्य जब यहाँ पर थे, तब उन्होंने जैनाचार्य को एक ग्राम भेंट किया था। महासामन्त श्रीविजय ने यहाँ पर एक भव्य मंदिर निर्मित कराया था—उक्त दान इसी मंदिर के लिये दिया गया था। गङ्गराजाओं के अतिरिक्त होयूसल वंश के राजाओं का सम्पर्क भी तलकाड से रहा है—दोनों वंशों के राजाओं ने जैनधर्म के लिये अनेक दान दिये और धर्मकार्य किये थे। होयूसलराज के सेनापति, सम्यक्त्वचूडामणि श्रीगङ्गराज ने सन् १११७ ई० में चोलों को तलकाड से मार भगाया था। चोलराज से होयूसल नरेश ऐसे रुष्ट हुए कि उन्होंने तलकाड को जला कर चोलों का नाम-निशान मिटा दिया।

(क्रमशः)

तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य की रचनाएँ

[लेखक—श्रीयुत सुमेरचन्द्र दिवाकर जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी०ए०, एल् एल०बी०]

प्राचीन संस्कृत-साहित्य की शोभा बढ़ानेवाले विद्वानों में आचार्य प्रभाचन्द्र का नाम, उनके बनाये ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र के कारण विशेष मान्य है। इस नाम के धारक और भी विद्वान हुए हैं, अतः प्रभाचन्द्र नाममात्र देखकर सहसा किसी रचना को प्रमेयकमलकार की मानना विद्वानों को तबतक अभीष्ट नहीं होता, जबतक कि वे उस रचना में प्रमेयकमलकार के पांडित्य की झलक का दर्शन न कर लें।

समाधितंत्र और रत्नकरंडश्रावकाचार की संस्कृत में टीका किन्हीं प्रभाचन्द्राचार्य्य ने की है। इन दोनों टीकाओं में समान शैली आदि को देखकर पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्त्यार इस सही नतीजे पर पहुँचे हैं कि दोनों के टीकाकार जुदे जुदे नहीं हैं। इसीलिये वे लिखते हैं—'मुझे इस विषय में कोई सन्देह नहीं मालूम होता कि यह (समाधितंत्र) टीका उन्हीं प्रभाचन्द्राचार्य की बनाई हुई है, जो कि रत्नकरंडश्रावकाचार की टीका के कर्ता हैं, दोनों की प्रतिपादनशैली, कथन करने का ढंग और साहित्य की दशा एक जैसी मालूम होती है।" किन्तु यह बात स्वीकार करने में लोगों को संकोच होता है कि उन दोनों टीकाओं के रचयिता प्रमेयकमलकार हैं। हम ग्रन्थों के कुछ अवतरण नीचे देते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि दोनों टीकाएँ प्रमेयकमलकार की ही हैं।

समाधितंत्र पेज १ में लिखा है

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षस्वरूपंचोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।

न्यायकुमुद पेज २ देखिये

तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवता विशेषं नमस्करोति।

प्रमेयकमल पेज २

अविघ्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रस्यादौ प्रतीयन्ते॥

समाधितंत्र पेज ३

यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति। सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता ।

न्यायकुमुदचन्द्र पेज ४ :

यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्कुर्वाणो दृष्टः, यथा कश्चित् धनुर्वेद-परिज्ञानार्थी तत्परिज्ञानगुणोपेतं, धर्मतीर्थकरत्वस्याद्यादित्वगुणार्थी चायं शास्त्रकार इति।

समाधितंत्र पेज १५ में लिखा है—'यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।"

रत्नकरंडश्रावकाचार-संस्कृत-टीका (पे० ६)—

तदलमतिप्रसगेन प्रमेयकमल-मार्तराडे न्यायकुमुदचंद्रे प्रपंचत प्ररूपणात्।

यदि प्रमेयकमल और न्यायकुमुद इन रत्नकरंड और समाधितंत्र के टीकाकार, प्रभाचंद्र, की कृति न होते, तो ये प्रभाचंद्र यह नही लिखते कि प्रमेयकमल और न्यायकुमुदचंद्र मे इन बातों का खंडन किया गया है, या निरूपण हुआ हैं। एक-आध जगह प्रयोग होने से यह भी संभावना उचित थी कि टीकाकार ने अन्य प्रख्यात प्रभाचंद्र की कृति की ओर इशारा किया हैं। किन्तु रत्नकरंड और समाधिशतक की टीका मे उन दोनों न्याय-ग्रन्थो का ही उल्लेख किया जाना इस संभावना को उत्पन्न करता है कि टीकाकार प्रभाचंद्र की ही रचना ये न्यायग्रंथ हैं, अतः अपने ग्रन्थो के अध्ययन की ओर इशारा मात्र करके विशेष प्रतिपादन के लिए उन्होंने मौनवृत्ति अंगीकार की; कारण वे छोटी-सी टीका लिखना चाहते थे, जो कि बालव्युत्पत्ति कराने मे समर्थ हो।

एक रचना विशेष पांडित्यपूर्ण हो और दूसरी बिल्कुल सरल हो, इतने से ही दोनों को भिन्न कर्तृक मानना पड़ेगा, ऐसी कुछ व्याप्ति नही मालूम पड़ती, कारण प्रकांड पांडित्य और भावो तथा भाषा पर अधिकार होने से यह साधारण बात है कि विद्वान् आचार्य मेधावी तार्किकों के लिये जटिल और दुरूह रचना कर दें, और साधारण शिष्यों के प्रवेशार्थ सरल भाषा मे सामान्य ढंग से समझाते हुए प्रतिपादन करें। इस तरह प्रतिपाद्य के अनुरूप रचना बनाने की क्षमता महान् पांडित्य और भाषाधिकार को द्योतित करती है, जो सौभाग्य कम व्यक्तियो मे पाया जाता है। अतः उक्त अवतरणो मे जो प्रमेयकमल और न्यायकुमुद का उल्लेख किया गया है, उससे टीकाकार प्रभाचन्द्र की तार्किक प्रभाचन्द्र से भिन्नता नही प्रतीत होती।

इसके सिवाय इन टीकाओ मे प्रभाचन्द्र की तार्किकता का प्रकाश अपनी छटा दिखाता ही हैं। रत्नकरंड के श्लोक ६ की टीका का तर्कपूर्ण विवेचन प्रमेयकमल की स्मृति ही नहीं कराता है, किन्तु उसमे और प्रमेयकमल के शब्दो और शैली मे भी समानता की स्पष्ट आभा का दर्शन कराता है; अंतर केवल इतना है कि प्रमेयकमल एक सरोवर के समान दीखता है और रत्नकरंड का वर्णन जलघट के समान, यथा :—

भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनैनो च्यते—अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता। आसयोग केवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् ॥'

(रत्नकरंड टीका, पेज ५)

'भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। नन्वनेना त्राहारमात्रं कवलाहारो वा साध्यते ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता—आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणा इत्यभ्युपगमात्।'

(प्रमेयकमल, पेज ८५)

'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात् ? अन्यथा रिरंसा अपि तत्र प्रसंगात्, कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्या विशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् कवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभाव परमप्रकर्षोपि तत्र किं न स्यात् तद्भाव भावतो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्।

(रत्नकरंड—टीका, पृ० ६)

'भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा। सा कथं मोहनीयस्यैव कार्यं ? इतरथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसा तत्कार्यं स्यात्। तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिप्रसंगान्नेश्वराद्स्य विशेष। यथा च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्तते तथा बुभुक्षापि'। इत्यादि।

(प्रमेयकमल, पे० ८६)

अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नहि भुञ्जानोपीति महच्चित्रं'।

(रत्नकरंड पृ० ६)

आहारकथामात्रेऽपि ह्यप्रमत्तोपि सन् साधु प्रमत्तो भवति नहि भुञ्जानोपीति श्रद्धामात्रम्।

(प्रमेयकमल, पृ० ८७)

इस प्रकार शब्द-सादृश्य और अर्थ-सादृश्य को देखने से यह प्रतीत होता है कि जिनकी लेखनी ने प्रमेयकमल-जैसे न्याय तर्कग्रंथ का निर्माण किया है, उन्हीं की लेखनी ने समाधितंत्र और रत्नकरंड की टीका की भी रचना की है। यह संभव है कि इन दोनों टीकाओं का निर्माण उन्होंने अपने जीवन की संध्या में किया हो, जब कि अधिक लम्बी रचना करने में शरीर साथ न देता हो, अथवा किन्हीं शिष्य विशेष के अनुग्रह के लिये ये टीकाएँ लिखी हों।

अन्य विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस विषय पर विचार करके पूर्ण निर्णय करें। हमें तो यही प्रतीत होता है कि शास्त्रि प्रभाचन्द्राचार्य ने ही समाधितंत्र और रत्नकरंड की भी टीकाएँ की हैं।

जैन-अनेकार्थसाहित्य

[लेखक—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा]

भारतीय भाषाओं मे संस्कृत-भाषा सबसे अधिक गौरवपूर्ण है। इस भाषा का शब्द-कोष अत्यन्त महान् एवं साहित्य अपरिमित है। व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई एवं क्लिष्ट होने के कारण यह भाषा बहुत प्राचीन काल से ही विद्वद्भोग्य अर्थात् साहित्यिक भाषा रही है। सबसे प्राचीन माने जानेवाले वेदो की भाषा भी यही है। वैदिक साहित्य तो इस भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का अत्यन्त नगण्य-सा है। जैन-विद्वानों ने भी अपनी सुंदर एवं ललित रचनाओं द्वारा इस भाषा का भाण्डार भरा है।

संस्कृत-भाषा मे एक ही वस्तु के जितने अधिक पर्यायवाची शब्द हैं एवं एक ही शब्द के जितने अधिक अर्थ हो सकते हैं, उतने अधिक पर्यायवाची शब्द तथा एक शब्द के अनेक अर्थ संसार-भर की किसी भी भाषा मे नहो पाये जाते। यह इस भाषा की विशेषता है। इस विशिष्टता से लाभ उठाकर जैन-विद्वानो ने द्विसंधान, चतुःसंधान, सप्तसंधान यावत् चतुर्विंशतिसंधान काव्य, तथा एक ही शब्द के हजारों, लाखो अर्थ एवं एक वाक्य के १० लाख से भी अधिक अर्थ करके अपनी अद्वितीय मेधा का परिचय दिया है।

यद्यपि जैनेतर विद्वानों ने भी द्विसंधान, त्रिसंधान एवं पंचसंधान-रूप कई काव्यों* की

---

* ऐसे काव्यों की यथाज्ञात सुची इस प्रकार है

१ दंडिकृत द्विसंधान (अनुपलब्ध, उल्लेख-भोजकृत शृङ्गार-प्रकाश) २ राघवपाडवीय कविराज (वि० १२३०) कृत, ३ विद्यामाधव-कृत पार्वतीरौक्मणीय (११८३ वि०), ४ सोमेश्वर-कृत राघवयादवीय, ५ वेंकटाध्वरीकृत यादवराघवीय (१७वीं शताब्दी), ६-७-८ रघुनाथाचार्य, श्रीनिवासाचार्य और वासुदेवकृत राघवयादवीय, ९ रामचंद्रकृत रसिकरंजन (शृङ्गारवैराग्य द्व्यर्थमय, ई० १५२४), १० चिदंबरकृत राघवयादवपाण्डवीय (ई० १५८६), ११ चिदंबरकृत पंचकल्याणचम्पू (राम, कृष्ण, विष्णु, शिव और सुब्राह्मणीय के श्लेपमय चरित्र), १२ अनंताचार्यकृत राघवयादवीय, १३ घनश्याम-कृत अबोधआकर (कृष्ण, नल, हरिश्चन्द्र), १४ हरदत्तकृत राघवनैपधीय (१८वी शताब्दी), १५ अनंतराम-सूरिकृत हरिश्चन्द्रोदय (प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और अन्य हरिश्चन्द्र का चरित्र), १६ सूर्य कवि-कृत कृष्ण-विलोम काव्य (ई० १५४२), १७ निर्नामक—नलहरिश्चन्द्रोदय।—History of Classical Sanskrit Literature by कृष्णमाचार्य। १८ बिल्हवण या सुंदरकवि-रचित चौरपंचाशिका (शशिकला और दुर्गा का चरित्र) रचना सन् १०६० के लगभग। —(जैनस्तोत्र-संदोह भाग २ प्रस्तावना पृ० २१-२२)

रचना की है, फिर भी जैन विद्वान् उससे भी अधिक महत्त्व के सप्तसंधान और चतुर्विंशति संधान काव्यों तथा एक एक वाक्य के दस लाख बाईस हजार चार सौ सात (१०२२४०७) अर्थ करके बाजी लगा गए हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र में जैनेतर विद्वानों की रचनाओं से जैन विद्वानों की रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशालिनी हैं। उनका विशाल अनेकार्थ साहित्य सचमुच जैन साहित्य एवं समाज के लिये गौरव की वस्तु है। इस लेख में उसी जैन अनेकार्थ साहित्य का परिचय कराना अभीष्ट है।

प्राचीनता

जहाँ तक हमें मालूम हो सका है हिमधान आदि काव्यों में सर्वप्रथम दण्डि के होने का उल्लेख मिलता है, पर वह उपलब्ध नहीं होने से निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपलब्ध अनेकार्थ साहित्य में सर्वप्रथम रचना जैनों की ही है। दि० धनंजय का समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है, फिर भी इसका ९वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। श्वे० सुराचार्य की रचना का समय इ० १०३३ निश्चित है और इसके पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र के काव्य का समय तो ई० सन् ११५० के करीब है। तब जैनेतर उपलब्ध काव्यों में सबसे प्राचीन कविराजकृत राघवपाण्डवीय है, जिसका समय इ० ११८२ से ९७ माना गया है।

एक श्लोक के विविध अर्थ करने का प्राचीन प्रमाण ज० जिनविजयजी के कथनानुसार संघदासगणी की रचित वसुदेव हिंडी है, जिसका समय ई० ५वीं या ६ठी शताब्दी है। इस ग्रन्थ में "चत्तारिअट्ठ" वाली गाथा के १४ अर्थ किये गये हैं—ऐसा विनयविजयजी ने अपने 'परिपाटीचतुर्दशकम्' में सूचित किया है। अतः सबसे प्राचीन रचना यही प्रतीत होती है।

अनेकार्थसाहित्य का प्रारम्भकाल यद्यपि ६ठी शताब्दी है, पर इस परिपाटी का प्रौढ़त्व (विकाश) तेरहवीं शताब्दी से हुआ है एवं १८वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान मेघविजय उपाध्याय के साथ ही इसका विच्छेद सा हो गया नजर आता है।

एक शब्द, वाक्य या श्लोक के एक से अधिक अर्थमय रचना को हम अनेकार्थसाहित्य में गणना करते हैं और अनेक ग्रन्थों की टीकाओं में टीकाकारों ने भिन्न भिन्न शब्दादि के अनेक अर्थ किये हैं, पर हम इस लेख में इस सम्बन्ध के मौलिक साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

साधारणतया अनेकार्थसाहित्य को हम तीन भागों में विभक्त कर देते हैं। ( ) अनेकार्थमय काव्य (२) कुछ शब्द वाक्य एवं श्लोकादि के विविध अर्थ और (३) पादपूर्तिसाहित्य। इनमें से पादपूर्ति साहित्य के सम्बन्ध में हमारा लेख इसी भास्कर के भाग ३ किरण ३ में प्रकाशित हो चुका है अवशेष दोनों भेदों पर ही इस लेख में विचार करते हैं।

श्लेषमय काव्य

द्व्याश्रय

१-२ चौलुक्यवंशोत्कीर्त्तन द्व्याश्रय*—हेमचन्द्र सूरि-कृत।

यह काव्य अपने ढंग का निराला ही है। इसके प्राकृत और संस्कृत—दो विभाग है, जिनमे से संस्कृत विभाग के २० सर्गों में अणहिलनपुर पाटण के वर्णन के साथ मूलराज से लेकर कुमारपाल के विजयी जीवन तक का ऐतिहासिक वृतांत है, एवं दूसरे भाग में प्राकृतादि ६ भाषा के उदाहरण ८ सर्गों मे कुमारपाल के राजकीय तथा धार्मिक जीवन का वर्णन है। इसमे सिद्धहेम शब्दानुशासन के समग्र सूत्रों के उदाहरण क्रमशः आनुपूर्वी रूप से निकलते हैं। अतः इस काव्य-रचना का उद्देश्य व्याकरण सिखाना और ऐतिहासिक वृत्तांत लिखना उभय रूप से होने के कारण इसे द्व्याश्रय कहा जाता है। यह काव्य टीका के साथ छप चुका है।

३ श्रेणिकचरित्र द्व्याश्रय—जिनप्रभसूरि-रचित, सं० १३५६।

इसमें कातन्त्र व्याकरण के सूत्र एवं श्रेणिक नृपति का चरित्र उपर्युक्त रूप से बड़ी खूबी के साथ योजित है। इसका अभी तक कुछ भाग ही मुद्रित हो पाया है। श्रीजिनप्रभसूरि जी ने 'उवसमाहरवृति' आदि में भी एक-एक गाथा के कई अर्थ कर अपना असाधारण पांडित्य व्यक्त किया है, तथा नवग्रह श्लेषमय पार्श्वस्तवन के प्रत्येक पद्य में एक-एक विशेषण ग्रहों और पार्श्वनाथजी से घटाया है।

द्विसंधान

४ राघवपाण्डवीय-द्विसंधान—दि० धनंजय† रचित।

इसमें रामायण और महाभारत की कथा प्रत्येक श्लोक मे श्लेषरूप से वर्णित है। श्लिष्ट काव्य होने पर भी इसमे माधुर्य एवं प्रसाद-गुण प्रचुर परिमाण मे विद्यमान हैं। इसकी रीति वैदर्भी है। काव्य बड़ा रोचक एवं प्रशंसनीय है। अभङ्ग तथा सभंग श्लेषों से युक्त इस काव्य की टीका विनयचन्द्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने विस्तारपूर्वक लिखी है। इस टीका

---

† संस्कृत द्व्याश्रय सूत्र २८२१, वृत्ति ख० अभयतिलक (ग्र० १७१७४) सं० १३१२० प्राकृत-द्व्याश्रय-सूत्र ११०, वृत्ति ख० पूर्णकलश (ग्र० ४२३०) सं० १३०७। (वृ० टिप्पणिका)

* धनंजय का समय 'संस्कृत-साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' पृ० १७३ में के० बे० पाठक के मतानुसार ई० ११२३ से ११४० के मध्य का लिखा है, पर श्री नाथूराम प्रेमी ने बनारसी-विलास की उत्थानिका में लिखा है कि ध्वन्यालोक के कर्त्ता आनंदवर्द्धन, हरचरित के कर्त्ता रत्नाकर और जल्हण (सूक्ति मुक्तावलीकर्त्ता) ने धनंजय को स्तुति की है। इनमें आनदवर्द्धन का समय ८४०-७०, एवं रत्नाकर का समय ई० ८१३-४० का संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में लिखा है; अत. धनंजय का समय ई० ८१३ से पहले का ही निश्चित होता है।

का सक्षेप करके बद्रीनाथ ने सुधा नामक टीका बनाकर निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित की है। "दि० जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" में १धर्मकीर्ति, २ पुष्पसेन (श्लोक ४०००), ३ माधवानद ४ मुहापडित, ५ विनयचन्द्र की इस पाँच टीकाओं का उल्लेख किया है। इनमें न० ५ का उल्लेख गलत प्रतीत होता है।

५ नाभेयनेमि द्विसधान—सुराचार्य स० १०८० (वृ० टिप्पणिका)।

इस काव्य में भगवान् ऋषभदेव और नेमिनाथ का श्लेषमय जीवनचरित्र वर्णित है। इस का उल्लेख प्रभाव-चरित्र में पाया जाता है।

६ नाभेयनेमि द्विसधान—बृहद्गच्छीय हेमचन्द्रसूरि।

न० ४ की तरह इसम भी ऋषभ और नेमि का सयुक्त चरित्र है। इसका सशोधन कविचक्रवर्ती श्रीपाल ने किया है। इस काव्य की प्रतियाँ बडौदा और पाटण मे हैं।

चतु सधान

७ मनोहर कृत चतु सधान काव्य—उ० 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ'

८ शोभन रचित चतु सधान " "

सप्तसधान

९ सप्तसधान काव्य कर्त्ता उ० मघविजय स० १७६०

श्लेषमय काव्यों में यह अनुपम कृति है। इसके प्रत्येक श्लोक म भगवान् ऋषभ, शाति नेमि, पार्श्व, वीर इन पाँच तीर्थंकरों एव राम और कृष्ण—इन ७ महापुरुषों का चरित्र श्लेषरूप से वर्णित है। अथात प्रत्येक श्लोक के ७ ७ अर्थ होते हैं और सातों महापुरुषों की जीवनी पर वे घटते हैं। यह मूल काव्य ९ सर्गों में यशोविजय ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है। स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है, पर वह अद्यावधि अप्रकाशित है। इन्होंने अपने काव्य के अत म हेमचन्द्र सूरि रचित सप्त-सधान का उल्लेख किया है, पर इसका अन्य कोई भी उल्लेख प्राचीन सूची आदि में नहीं मिलने से मुझे तो उनका कथन प्रामाणिक नहीं जँचता।

१० सप्तसधान काव्य—जगन्नाथ-रचित, उ० 'दि० जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ'।

इस काव्य पर पुष्पसेन-रचित टीका का उल्लेख उक्त ग्रन्थ में है, पर वह न० ६, ७, ८ भी) कहाँ तक सही है, कहा नहा जा सकता।

चतुर्विंशति सधान

१ चतुर्विंशति सधान—दि० प० जगन्नाथ रचित*।

* प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'दि० जैनग्रथों की एक बृहत् सूची' नामक लेख में इन जगन्नाथ को रसगंगाधर का रचयिता ब्राह्मण विद्वान होने की संभावना की है, पर अभी तक जगन्नाथ कौन थे, और कब हुए—निर्णय करने की आवश्यकता है एव इनके रचित सप्तसधान, मनोहर तथा शोभनकृत चतुसधान की प्रतियाँ कहाँ है, इस बात का भी अनुसन्धान आवश्यक है।

इसके प्रत्येक श्लोक के २४ तीर्थंकरों से संबंधित २४ अर्थ होते हैं। हिन्दी-अनुवाद सहित यह काव्य प्रकाशित हो चुका है।

अनेकार्थमय स्तोत्र-साहित्य

१ देवेन्द्रसूरि-रचित "चत्तारि अट्ठदोस" गाथा-विवरण-सूचकस्तव गा० १५।
२ विनयविजय-विरचित " " " परिपाटी गा० २७ अर्थ १४
३ समयसुंदरोपाध्याय-रचित " " " स्तवन गा० १७ अर्थ १३
४ विवेक-सागर-रचित 'हरि' शब्दार्थ (३० अर्थ) गर्भित वीतरागस्तव
५ नयचन्द्र सूरिरचित " " (१४ अर्थ) " स्तम्भपार्श्वस्तव (सं १२५०)
६ गुणविजय-रचित 'सारङ्ग' शब्दार्थ-गर्भित महावीरस्तव
७ निर्नामक " " " ऋषभस्तुतिः
८ लक्ष्मीकल्लोल-रचित 'पराग' शब्दार्थ (अष्टोत्तरशत) निबद्ध साधारण जिनस्तव
९ चारित्ररत्न शि० जिनमाणिक्य-गणिकृत नानार्थ-'सरस्वती' शब्दगुम्फित युगादिस्तव गा० ३८
१० ज्ञानसागर सूरिरचित " "नवखंड" शब्दगुम्फित नवखंडपार्श्वस्तव
११ निर्नामक 'शर्म' " " पार्श्वस्तोत्र
१२ " 'महावीर' " " वीरस्तोत्र गा० ८
१३ " 'गो' " " (४ अर्थ) १ श्लोक
१४ सोमतिलकसूरि-रचित विविधार्थमयसर्वज्ञस्तोत्र
१५ " श्लेषमय साधारण जिनस्तुति (तीर्थाधिराज ") } एक ही श्लोक के चार-चार अर्थ
१६ " सिद्धार्थनरेन्द्रादि वीरजिनस्तव गा० १२ (२४ तीर्थंकर और गुरु-इन २५ की स्तुति है)
१७ रत्नशेखरसूरि-रचित नवग्रह-गर्भित पार्श्वस्तवन
१८ " " वामेयजिनस्तवन
१९ " " पार्श्वस्तव (आबू के ऋषभ, नेमि, पार्श्व, तीनों से सम्बधित अर्थमय)
२० मेघविजय-रचित पंचतीर्थी स्तुति (ऋषभ, नेमि, शांति, पार्श्व, वीर पाँच तीर्थंकरों के पंचार्थरूप, शि० मेरुविजय के लिये रचित
२१ समयसुंदर-रचित नाना कवि-प्रणीत काव्य द्व्यर्थकरण पार्श्वस्तव। इस स्तोत्र की ७ गाथाएँ हैं, जिनमे से प्रथम की ६ गाथाओं मे क्रमशः १ कुमारसंभव, २ मेघदूत,

३ शिशुपालवध, ४ तर्कशास्त्र, ५ समपदार्था एवं ५ सूतरखाकर इन ६ ग्रन्थों के मंगलाचरण श्लोकों को दिया है और इनके अर्थ श्रीमीरा पार्श्वनाथ की स्तुति रूप में घटाया है।

२२ पचार्थकाव्य —"यो नक्षा" आद्यपदवाले एक श्लोक के ब्रह्मा, विष्णु हर, सूर्य, चन्द्र एवं पार्श्वजिनपक्ष में अर्थ, प्र० अनेकार्थ साहित्य संग्रह पृ० ६५।

२३ जिनप्रभसूरि-कृत नवग्रह श्लेषमय पार्श्वस्तवन।

२४ समयसुंदर रचित २४ जिनगुरुनामगर्भित स्तवन।

२५ ग० कीर्तिरत्न सूरि रचित 'चत्तारिअट्ठ' गाथा के ? अर्थ (प्रति हमारे संग्रह में)।

टीकारूप अनेकार्थसाहित्य

अष्टलक्षी

१ अर्थरत्नावली—महोपाध्याय समयसुंदर रचित सं० १६४९ लाहौर।

कहा जाता है कि एकबार सम्राट् अकबर की विद्वत्सभा में जैनों के 'एगस्स सुत्तस्स अनन्तो अत्थो" वाक्य का किसी जैनेतर विद्वान् ने उपहास किया। यह बात उ० समयसुंदर जी को अखरी और जैनों के इस वाक्य की सार्थकता बतलाने के लिये 'राजा नो ददते सौख्यम्" इन ८ शब्दवाले वाक्य के १०२२४०६ अर्थ कर डाले। सं० १६४९ के श्रावण शुक्ला १३ को जब सम्राट् ने काश्मीर का प्रथम प्रयाण राजा श्रीरामदास की वाटिका में किया, तो वहाँ संध्या के समय विद्वत्सभा एकत्र हुई, जिसमें सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, बड़े बड़े सामन्त महीपति राजा महाराजा एवं अनेक वैयाकरण, तार्किक, उद्भट विद्वान सम्मिलित थे। कविवर ने अपना यह ग्रन्थ (कुछ अंश) सम्राट् को पढ़कर सुनाया। इससे सम्राट [illegible] अत्यन्त चम त्कृत एवं विस्मृत होकर उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की एवं 'इस ग्रन्थरत्न का पठन-पाठनादि के द्वारा सर्वत्र प्रचार हो"-कहते हुए ग्रन्थ अपने हाथ में लेकर कविवर को समर्पण किया। उन्होंने सम्राट् अकबर सम्बधी एक और नया अर्थ करके १०२२४०७ अर्थ वाले इस ग्रन्थकी समाप्ति की। इन अर्थों में से कोई अर्थ संगत न हो या अर्थ योजना में न बैठे उसकी स्थान पूर्ति के लिये २ लाख, २२ हजार, ४ सौ ७ अर्थ को छोड़कर इस ग्रन्थ का नाम अष्टलक्षी रखा। प्रस्तुत ग्रंथ भारतीय-साहित्य का ही नहीं, विश्व साहित्य का अद्वितीयरत्न है। भारतीय विद्वानों-शिरोमणि जैन विद्वानों के बुद्धिवैभव का जीता-जागता उदाहरण, अनेक अनेकार्थ जैनकृतियों के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ देवचंद लालभाइ पुस्तकोद्धार फंड ग्रन्थांक ८१ के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

पचशतार्थी

१ पञ्चशती—गुणविनय रचित सयागच्छ का पट्टावलिया में यागशास्त्र के निमात्त

श्लोक के ५०० अर्थ करने का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है।

श्लोक—नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारणे।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने।१।

शतार्थी

३ आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य वर्द्धमानगणि-रचित "कुमारविहारप्रशस्ति" के ८७वें श्लोक (गम्भीरश्रुतिभिः) के, रचयिता ने ही ११६ अर्थ किये हैं, जिनमे से १ कुमारपाल २ हेमचन्द्र, ३ वाग्भट्ट ये तीन अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्व के हैं।

४ आचार्य हेमचन्द्र सूरि के समकालीन विद्वान् सोमप्रभसूरि ने अपने रचित "कल्याण-सारसहितान्" श्लोक के १०६ अर्थ किये हैं, जिनमे से न० ९१ से १०२ तक के अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्व के है।

उपर्युक्त दोनो शतार्थिये अनेकार्थ साहित्य-संग्रह भाग १ मे मुनिचतुर विजयजी-सम्पादित कवियो के जीवनवृत्त के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

५ तपागच्छीय उदयधर्मगणि ने उपदेशमाला की ("दोससयजालमूलं" वाली) ५१वी गाथा के १०१ अर्थ किये है। इसकी प्रेस-कॉपी मुनिचतुर विजयजी ने तैयार की है, मूलप्रति प्र० कांतिविजय भांडार, वड़ौदे मे है। ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १६०५ है।

६ तपागच्छीय पं० मानसागर जी को परीक्षा के लिये हीरविजय सूरिजी ने योगशास्त्र के द्वितीय प्रकाश के १०वें श्लोक "परिग्रहारंभमग्ना" श्लोक देकर विविधार्थ करने को कहा. तब आपने शतार्थी (१०६ अर्थमय) बनाई। इसकी प्रति भी प्र० कांतिविजय भांडार, वड़ोदा तथा लीवडी भांडार मे विद्यमान है।

७ तपागच्छीय पं० हर्षकुल ने नमस्कारसूत्र के प्रथमपद के ११० अर्थमय शतार्थी❀ बनाई। इसका उल्लेख विजय विमल ने हेतुदय विभंगी टीका मे किया है।

८ जयसुन्दरसूरिकृत योगशास्त्र-प्रकाश २ श्लोक ८५ वे ("प्राप्तुपरमपारस्य") पर शतार्थी बनाई। उ० अनेकार्थरत्नमंजूषा, पृ० १०।

९ बप्पभट्टसूरि-निर्मित "सत्तीसियादि" गाथा क "अष्टोत्तरशतार्थीवृत्ति।" उ० अनेकार्थ रत्नमंजूपा, पृ० १०।

१० रत्नाकरावतारिका के प्रथम पद्य पर शतार्थीवृत्ति। उ० जैनग्रन्थावली।

११ खरतरगच्छीय उ० गुणविनयजी-रचित "सन्नत्थ" शब्द के ११७ अर्थ, प्र० अनेकार्थ मंजूषा।

❀ मंत्रराजगुणकल्प महोदधि एवं अनेकार्थ रत्नमंजूषा में इसका कर्त्ता गुणरत्न लिखा है, पर वे तो प्रति-लेखक हैं। रचयिता हर्षकुल अनेकार्थरत्नमंजूषा में प्रस्तुत कृति के अंत में स्पष्ट लिखा है।

१२ खरतरगच्छीय हमसमोदगणी के सं० १६६२ में रचित "सारसमार" आगपदवान १ श्लोक पर १ अर्थ, इसकी एकमात्र प्रति जसलमेर भंडार में है। इसके अर्थों से भी कई ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व के हैं। अभी हमने इसकी प्रति को श्रीहरिसागरसूरि जी को भेजकर उनके सग्रह के लिये नकल करवाई है।

१३ रतलाम में यतिवर्य फ्रेमरचंद्र जी के पुस्तकालय में १ शतार्थी कृति की पत्र ४० की प्रति है जिसमें १ श्लोक के १०० अर्थ किये हैं, पर ग्रन्थकार का नाम नहीं है।

फुटकर रचनाएं

१४ हमारे सग्रह में अचलगच्छीय माणिक्यसुन्दरसूरि रचित "गाथा नो न्हा सौख्य" गाथा के ६४ अर्थ हैं।

१५ जैनाश्वगाथयी के विविधार्थमय विवरण, शुभविजय रचित। अनेकार्थ रत्नमंजूषा में छपा है।

१६ रत्नचन्द्रसूरि-रचित 'परावाया' शब्द के ५० अर्थ, प्र० अनेकार्थरत्नमंजूषा।

१७ जिनप्रभसूरि-रचित अनुयोग चतुष्क व्याख्या   प्र   ''

१८ मानप्रभसूरि रचित "गहुलिका" शब्द के ५१ अर्थ, प्र० मानप्रभसूरि विरचित चरित्र में।

१९ महो० समयसुन्दररचित समस्त के आगाध्यार के ३ पंक्ति (आगम, जिनचन्द्रसूरि, सूर) अर्थ। इसकी प्रति हमारे संग्रह में है।

२० महो० समयसुन्दर रचित उपमालाकरचित जिनागमन स्तुति की दूसरी गाथा के ६ अर्थ। इसकी प्रति भी हमारे संग्रह में है।

२१ परवार सभा उपमनारद आदि की कृतियों।

इस प्रकार जैन अनेकार्थसाहित्य का यह संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया गया है। इसके लिखने में अनेकार्थरत्नमंजूषा अनेकार्थसाहित्यसंग्रह, मुनि चतुरविजय जी लिखित जैनोंका अनेकार्थ साहित्य संस्कृतसाहित्य का इतिहास आदि ग्रन्थों की सहायता ली गई है। दिगम्बर-साहित्य के बारे में विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये कई विद्वानों को पत्र लिखे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। अतः 'दि० जैनग्रंथ और ग्रंथकार' से जितना ज्ञात हो सका उस पर से ही इसका उल्लेख कर के ही सन्तोष करना पड़ा। दिगम्बर साहित्य के विशाल इतिहास का अभाव बहुत खटक रहा है इसके लिये पत्र भी कई लिखे पर पता ही किस से भी नि० समाज और उनके विद्वानों से सादर आत्मानुरोध निवेदन करता हूँ कि वे अविलम्बित इसकी कमी की पूर्ति करने का ध्यान दें एवं सादर इतिहास के प्रकाशन करने की कृपा करें।

प्रकाशित श्वे० साहित्य तथा ऐतिहासिक ग्रंथों के सामने जब-जब दि० साहित्य की तुलना करने का अवसर सामने आता है, तब-तब मुझे परम हार्दिक दुःख होता है कि दि० समाज में पंडितों की संख्या इतनी अधिक एवं धनी मानी व्यक्तियों की कमी न होते हुए भी वे इतने पिछड़े हुए क्यों हैं ? उनका साहित्य भी बहुत महत्त्व का एवं उच्चकोटि का है, फिर भी वे इतने उदासीन क्यों ? उस समाज का एक भी पट्टावलीसंग्रह, जातीय इतिहास-संग्रह, जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह या साहित्य का इतिहास देखने में नहीं आता। शिलालेख-संग्रह भी अपेक्षाकृत बहुत कम है। दि० विद्वानों एवं आचार्यों के जीवन-चरित्र भी स्वतन्त्र एवं सुचारुरूप से बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं। जैनसमाज का करीब आधा भाग जिस सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसके साहित्य के विषय में खोजने पर भी जानकारी का कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं मिलता।

सत्यता के नाते मुझे कहना पड़ेगा कि किसी किसी बात में श्वे० साहित्य से भी दि० साहित्य अपेक्षाकृत अधिक महत्व का है, जैसे आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी, कन्नड तामिलादि भाषा का साहित्य आदि में दि० साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। आशा है, श्वे० समाज के एक नगण्य साहित्यसेवी के, ये ताने दि० समाज एवं उनके विद्वानों को इस कार्य में शीघ्र प्रवृत्त करने में सहायक होंगे।

आचार्य अमितगति

[लेखक—श्रीयुत प० नाथूराम प्रेमी]

मालवेके विद्याप्रेमी और विद्वान् परमार-वंशके राजाओंके कालमें जो अनेक जैन विद्वान् हो गये हैं, उनमें आचार्य अमितगतिका एक विशेष स्थान है। इस वंशके राजा यद्यपि जैनधर्मानुयायी नहीं थे, परन्तु जैनधर्मके प्रति उनका आदरभाव अवश्य था। अमितगतिके गुरु माधवसेन 'मुंजराजार्चित' मुंजराजा द्वारा पूजित थे और प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्त्ता आचार्य महासेन महाराजा सिन्धुराजके महामहत्तम (महामात्य) श्रीपर्पटके गुरु थे। न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्त्तण्डके कर्त्ता प्रभाचन्द्र धाराधीश भोजदेव-द्वारा सम्मानित थे। महाकवि धनपालने अपना प्रसिद्ध गद्यकाव्य 'तिलकमंजरी'की रचना राजा भोजके कहनेसे की थी और राजा भोजने उन्हें अपनी सभामें 'सरस्वती'की पदवीसे सम्मानित किया था। द्रुबकुण्डके वि० सं० ११४५ के लेखके अनुसार जैनाचार्य शान्तिषेणने भोजदेवकी सभामें अम्बरसेन आदि जैन विद्वानोंका अपमान करनेवाले पण्डितोंको हराया था। इसी तरह भोजके वंशज अर्जुनदेवके सान्धिविग्रहिक मंत्री मदन उपाध्याय पण्डित आशाधरके मित्र थे× और गुरु बालसरस्वती मदनोपाध्याय शिष्य थे। इससे पता लगता है कि उक्त सब राजाओंके कालमें जैन विद्वानोंकी अच्छी प्रतिष्ठा थी और उनका जैनधर्मके प्रति सद्भाव था। साहित्याचार्य विश्वेश्वरनाथ रेउके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मुंजकी सभाके एक रत्न थे। वे बहुश्रुत विद्वान् थे और उन्होंने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे थे। उनके तमाम उपलब्ध ग्रन्थ संस्कृतमें हैं, अब तक प्राकृत या अपभ्रंश भाषाका उनका कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

(अमितगति माथुरसंघके आचार्य थे। देवसेनसूरिने अपने 'दर्शनसार' में जो पाँच जैनाभास बतलाये हैं, उनमें एक माथुरसंघ भी है। इसे निष्पिच्छिक भी कहते हैं। क्योंकि इस संघके अनुयायी मुनि मोर पिच्छि या गो पिच्छि नहीं रखते थे।

जैसा कि मैंने [illegible] बतलाया है प्रायः सभी संघों, गणों और गच्छोंके नाम

—

॰ देखो जैनशिलालेखसंग्रह लेख नं० ५४—श्रीधारणधिपमो राजमुकुटप्रातास्म। [illegible] श्रीमान् प्रभाचन्द्रमा।

× देखो, मेरा लिखा 'पण्डितप्रवर आशाधर' शीर्षक लेख, अनेकान्त भाग अंक ११ १२

स्थानों या देशोंके नामसे पड़े हैं, माथुरसंघ नाम भी स्थान के कारण पड़ा है—मथुरा नगर या प्रान्तका जो मुनिसंघ वह माथुर संघ।

दर्शनसारमें काष्ठासंघकी उत्पत्ति आचार्य जिनसेनके सतीर्थ वीरसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि० सं० ७५३ में हुई बतलाई गई है, जो नन्दी तटमें रहते थे और कहा है कि उन्होंने कर्कश केश, अर्थात गौकी पूछकी पिच्छि, ग्रहण करके सारे बागड़ देशमें उन्मार्ग चलाया।* फिर इसके दो सौ वर्ष बाद, अर्थात् वि० सं० ९५३ के लगभग मथुरामें माथुरोंके गुरु, रामसेनने, निःपिच्छिक रहनेका उपदेश दिया:† कहा कि न मयूरपिच्छि रखनेकी जरूरत है और न गोपुच्छकी पिच्छि। इससे जान पड़ता है कि काष्ठासंघकी ही एक शाखा माथुरसंघ है।

इस बातकी पुष्टि सुरेन्द्रकीर्ति आचार्यकी बनाई हुई पट्टावलीके निम्नलिखित पद्योंसे भी होती है—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः।
लाड-बागड इत्येते विख्याता. क्षितिमण्डले॥

अर्थात काष्ठासंघमे नन्दितट, माथुर, बागड़ और लाड-बागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। यह स्पष्ट है कि ये चारो नाम स्थानों और प्रान्तोंके नामों पर रक्खे गये है। कुमारसेन नन्दितटके थे, उससे नन्दितट गच्छ, रामसेन मथुराके थे, उससे माथुरगच्छ और बागडसे (सागवाड़ेके आसपासके प्रदेशको अब भी बागड कहते हैं) बागड़गच्छ और लाट (गुजरात) और बागड़से लाड-बागड़ गच्छ। लाट और बागड बहुत समय तक एक ही राजवंशके अधीन रह चुके हैं।

गण, गच्छ और संघ कही-कही पर्यायवाची रूपमे भी व्यवहृत हुए हैं।

माथुरसंघको जीव-रक्षाके लिए किसी तरहकी पिच्छि न रखनेके कारण ही जैनाभास कहा है, या और किसी कारणसे, यह समझमें नहीं आता। अन्यथा उस संघके आचार्य अमितगतिके ग्रन्थोंसे तो उनका कोई ऐसा सिद्धान्त-भेद नही मालूम होता, जिससे उन्हे जैनाभास कहा जाय। उनके ग्रन्थोका पठन-पाठन भी हमारे यहाँ बराबर होता है।

---

* पं० बुलाकीचन्द्रकृत वचनकोशमें जो वि० सं० १७३७ का बना हुआ है, काष्ठासंघकी उत्पत्ति लोहाचार्य-द्वारा जो उमास्वामीके पट्टाधिकारी थे, अगरोहा नगरमें हुई बतलाई है और काठकी प्रतिमा-पूजाका विधान करनेसे काष्ठासंघ नाम पडा कहा है; परन्तु उक्त कथा सर्वथा अविश्वसनीय है।

† देखो दर्शनसारकी ३१ से ४१ नम्बर तककी गाथायें।

बहुत सम्भव है कि मयूरपुच्छ और गोपुच्छकी पिच्छि रखनेका विवाद उस समय इतना बढ़ गया हो कि माथुरसंघके आचार्योंने चिढ़कर किसी भी तरहकी पिच्छि न रखना ज्यादा पसन्द किया हो। संघ-भेद अक्सर ऐसे छोटे छोटे कारणोंसे भी मतसहिष्णुताके अभावमें होते रहे हैं।

एक अनुमान यह भी होता है कि काष्ठासंघके मुनि चैत्यवासी या मठवासी हो गये थे, मन्दिरोंके लिए भूमि-ग्रामादि ग्रहण करने लगे थे। इस कारण शायद उन्हें जैनाभास कहा गया होगा।[1]

दर्शनसारकी रचना वि० सं० ९९०में हुई है। हमें इस विषयमें बहुत सन्देह है कि इसमें जो काष्ठासंघ और माथुरसंघकी उत्पत्तिका समय वि० सं० ७५३ बतलाया है वह बिलकुल ठीक है। इस विषयमें हमने दर्शनसार-विवेचनामें विस्तारके साथ लिखा है। सन्देह होनेका सबसे बड़ा कारण यह है कि दर्शनसारके अनुसार गुणभद्रकी मृत्युके पश्चात् विनयसेनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी[2] स्थापना की और गुणभद्र स्वामीने अपना उत्तरपुराण श० सं० ८२०, अर्थात् वि० सं० ९५५ में समाप्त किया है। यदि इस ९५५ संवत्को ही उनका मृत्यु-काल मान लिया जाय तो काष्ठासंघकी उत्पत्ति ७५५ में लगभग दो सौ वर्ष पीछे जा पड़ती है।

इसी तरह अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसन्दोह वि० सं० १०५०में समाप्त किया है और उन्होंने अपनी गुरुपरम्परामें पाँच पूर्वजोंका उल्लेख किया है जिनमें पहले वीरसेन हैं। यदि प्रत्येक पूर्वजका समय २० वर्षका भी माना जाय तो सौ वर्ष हो जाता है, अर्थात् वीरसेनका समय वि० सं० ९५० के लगभग होगा और उक्त वीरसेन ही माथुरसंघके स्थापक नहीं थे, रामसेन थे[3] और यदि वे वीरसेनसे दो तीन पीढ़ी ही पहले हुए हों, तो उनका समय भी दर्शनसारमें बतलाये हुए माथुरसंघकी स्थापनाके समय वि० सं० ९५३ से पहले चला जाता है।

लाड़ बागड़ संघ भी जो काष्ठासंघकी एक शाखा है, काफी प्राचीन मालूम होता है। दुबकुण्डके जैन[4] मन्दिरके प्रशस्ति-लेखके रचयिता, विजयकीर्ति मुनि लाड़-बागड़ संघके हैं।

---

१ इस विषयपर मैंने अपने 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षक लेखमें अधिक विस्तारसे लिखा है।

२ दर्शनसार गाथा ३०-३२।

३ दर्शनसार गाथा ४०

४ ग्वालियरसे ७६ मील नैऋत्यमें कुनू नदीके बाईं ओर 'दुबकुंड' नामक स्थानमें यह जैनमन्दिर है। एपिग्राफिआ इण्डिका जिल्द २, पृष्ठ २३७-४० में उक्त लेख छपा है।

वे शान्तिषेणके शिष्य थे। इन शान्तिषेणके पहलेके देवसेन, कुलभूषण और दुर्लभसेन नामक गुरुओंका भी उसमें उल्लेख है। शान्तिषेण दुर्लभसेनके शिष्य थे। अर्थात् विजयकीर्तिसे कमसे कम सौ वर्ष पहले देवसेन गुरु हुए होंगे। उक्त लेख भाद्रसुदी ३ वि० सं० ११४५का लिखा हुआ है। अर्थात् वि० सं० १०४५ से भी पहले तक इस संघकी परम्परा जा पहुँचती है।

इसी तरह प्रद्युम्नचरित काव्यके कर्त्ता महासेन परमार-राजा मुंजके समयमें वि० सं० १०५० के लगभग हुए हैं। ये भी लाड़-बागड़ संघके थे। इन्होंने अपने गुरु गुणाकरसेन और दादा गुरु जयसेनका उल्लेख किया है, जो वि० सं० १००० के लगभग या कुछ पहले हुए होंगे।*

अमितगतिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—

सिद्धान्तपारगामी वीरसेन उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।†

अमितगतिकी और एक शिष्य परम्पराका पता अमरकीर्तिके ‡ छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) से लगता है, जो इस प्रकार है—

अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

अमरकीर्तिने अपना यह अपभ्रंश भाषाका ग्रन्थ भादो सुदी १४ वि० सं० १२४७ को समाप्त किया था।

अमितगतिसूरिके अबतक नीचे लिखे ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।—

१ सुभाषितरत्नसन्दोह—यह एक स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इसमें सांसारिक विषय-निराकरण, मायाहंकार-निराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोषविचार, देवनिरूपण, आदि बत्तीस प्रकरण हैं और प्रत्येकमें बीस-बीस पचीस-पचीस पद्य हैं। सुगम संस्कृतमें प्रत्येक विषयका बड़ी सुन्दरतासे निरूपण किया गया है। सभी पद्य कण्ठ करने लायक हैं। ग्रन्थके उपान्तमें ११७ श्लोकोंमें श्रावक-धर्मनिरूपण है, जिसे एक छोटा-सा श्रावकाचार समझना चाहिए। पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य हैं।

---

* प्रद्युम्नचरित माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है। जिस प्रतिके आधारसे वह छपा था, उसमें प्रशस्ति नहीं थी। परन्तु कारंजाके भंडारमें जो प्रति है, उसमें प्रशस्ति है, जिसे मैंने अपने अन्य 'महासेनाचार्य' शीर्षक लेखमें उद्धृत किया है।

† आगे दी हुई प्रशस्तियाँ देखिए।

‡ इस ग्रन्थका विस्तृत परिचय प्रो० हीरालालजी जैनने जैन-सिद्धान्तभास्कर भाग २ अंक ३ में दिया है।

निर्णयसागरकी काव्यमालामें यह बहुत समय पहले प्रकाशित हो चुका है। कलकत्तेकी सिद्धान्त प्रचारिणी सभा इसे हिन्दी अनुवादसहित भी प्रकाशित कर चुकी है।

यह ग्रन्थ विक्रमसंवत् १०५० पौष सुदी पंचमीको समाप्त हुआ है जब कि राजा मुंज पृथिवीका पालन करते थे।

२ धर्मपरीक्षा—संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका एक निराला ही काव्य ग्रन्थ है। हिन्दू पुराणोंकी ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओंको बड़े ही मनोरंजक रूपमें मजाक करते हुए अविश्वसनीय ठहरा देनेवाला शायद ही कोई ग्रन्थ इस श्रेणीका हो। सारा ग्रन्थ एक सुन्दर पद्यके रूपमें श्लोकबद्ध है। श्लोकोंकी संख्या १९४५ है। इसके पढनेसे मालूम होता है, ग्रन्थकर्त्ता पुराण साहित्यकी काफी जानकारी रखते थे।

हमारा ख्याल है कि यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिके धूर्ताख्यान नामक प्राकृत ग्रन्थकी छाया लेकर बनाया गया है। कमसे कम धूर्ताख्यान उन्होंने पढा अवश्य होगा। ढंग दोनोंका एक है, यद्यपि धर्मपरीक्षा उससे भी अधिक मनोरंजक बन गई है। यह बात ग्रन्थकर्त्ताका आशुकवि होना प्रकट करती है कि केवल दो महीनेमें ही उन्होंने इस ग्रन्थको समाप्त कर दिया था।+

यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १०७० में समाप्त हुआ था। अबसे लगभग ४० वर्ष पहले इसे स्व० गुरुजी पं० पन्नालालजीने हिन्दी अनुवाद सहित बम्बईसे प्रकाशित किया था।

३ पञ्चसंग्रह इसे संस्कृत श्लोकबद्ध गोम्मटसार कहना चाहिए। गोम्मटसारका भी एक नाम पंचसंग्रह है। प्रायः गोम्मटसारके ही विषयको सुगम संस्कृतमें श्लोकबद्ध करके यह रचा गया है।

यह ग्रन्थ विक्रम संवत् १०७३में मसूतिकापुर नामक स्थानमें बनकर समाप्त हुआ था। इसकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि इनके गुरु माधवसेनके समयमें सिन्धुपति या सिन्धुल पृथ्वीकी रक्षा करते थे।

माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमालामें यह ग्रन्थ सन् १९२७में प्रकाशित हो चुका है।

४ उपासकाचार—अमितगति श्रावकाचार नामसे इसकी प्रसिद्धि है। उपलब्ध श्रावकाचारोंमें यह बहुत विशद, सुगम और विस्तृत है। रचना बहुत ही सुन्दर और काव्यमयी है। इसकी श्लोक संख्या १३५२ है। इस ग्रन्थके अन्तमें कर्त्ताने अपनी गुरु परम्परा तो दी है, परन्तु रचनाका समय, स्थान आदि नहीं दिया है। संभव है, प्रशस्तिके एक दो पद्य लिपिकर्त्ताओंकी कृपासे छूट गये हों।

+ अमितगतिरिवेदं स्वस्य मासद्वयेन।
प्रथितविशदकीर्ति काव्यमुद्भूतदोषम्॥

यह ग्रन्थ अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालामे स्व० पं० भागचन्दजीकी भाषावचनिका सहित वि० सं० १८७९में प्रकाशित हो चुका है।

५ भगवती-आराधना —यह शिवार्यकी प्राकृत आराधनाका पद्यवद्ध संस्कृत अनुवाद है। यह अनुवाद केवल चार महीनेमे पूर्ण किया गया था। इसमे ग्रन्थकर्त्ताने देवसेनसे लेकर अपने तककी गुरुपरम्परा दी है; परन्तु समय और स्थान नही दिया है। यह ग्रन्थ शोलापुरसे प्रकाशित हो चुका है।

६ सामयिक पाठ —यह एकसौ बीस पद्योंका ग्रन्थ है। इसके अन्तमे लिखा है—

वृत्तवंशशतेनेति कुर्वता तत्त्वभावनां।
सद्योऽमितगतेरिष्टा निर्वृ तिः क्रियते करे।

इति द्वितीय भावना समाप्ता।

इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थका नाम सामयिक पाठ तो नही है, या तो तत्त्वभावना होगा या कुछ और। 'इति द्वितोय भावना' से यह भी अनुमान होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बड़ा है और उसकी यह दूसरी भावना या दूसरा अध्याय है। माणिकचन्द-ग्रन्थमालाके सिद्धान्तसारादि संग्रहमे यह एक ही कापी परसे प्रकाशित हुआ है जिसे ब्रह्मचारी शीतलसादजी किसी पुस्तक-भंडारसे नकल करके लाये थे।

७ भावना-द्वात्रिंशतिका। यह ३२ पद्योंका एक प्रकरण है, जो सामायिक पाठ नामसे कई स्थानोसे प्रकाशित हो चुका है। पाठ करने योग्य वहुत ही सुन्दर रचना है। सभव है, यह भी पूर्वोक्त तत्त्वभावना या ऐसे ही किसी नामवाले ग्रन्थका एक अंश हो।

८ योगसार प्राभृत—इस ग्रन्थके कर्त्ताका नाम भी अमितगति है, परन्तु सन्देह होता है कि इसके कर्त्ता शायद इन अमितगतिके दादा गुरुके गुरु अमितगति हों। क्योंकि ये अमितगति अपने प्रत्येक ग्रन्थके प्रायः प्रत्येक प्रकरण या अध्यायके अन्तमे अपना अमितगति नाम श्लिष्ट रूपसे देते हैं। उनकी यह विशेषता योगसारमे नही है। इस ग्रन्थके अन्तमे कोई गुरु-परम्परा भी नही दी है, सिर्फ इतना परिचय है—

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं
नि:संगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं
ब्रह्मप्राप्त्या परममकृतं स्वेषु चात्मप्रतिष्ठम्
नित्यानन्दं गलितकलितं सूक्ष्ममत्यन्तलक्ष्यम्।
योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानतः
स्वस्वरूपमुपलक्ष्य सोऽचितः (चिर.) सम्प्रयाति भवदोषवंचितम्।
इति श्री अमितगतिवीतरागविरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवमोधिकारः।

अपने नामके साथ दिया हुआ 'वीतराग' विशेषण भी इनके प्रथम अमितगति होनेके अनुमानको सहारा देता है।

यह ग्रन्थ जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है।

कुछ ग्रन्थसूचियोंमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन चार ग्रन्थोंको और भी अमितगति-कृत बतलाया है। परन्तु अभी तक ये कहीं उपलब्ध नहीं हुए।

उपलब्ध ग्रन्थोंमें सुभाषितरत्नसन्दोह वि० सं० १०५० की रचना है। इसके पहलेकी किसी रचनाका हमें पता नहीं। यह ग्रन्थ काफी प्रौढ़ है। अधिक नहीं तो उस समय ग्रन्थकर्त्ताकी अवस्था २५-३० वर्षकी अवश्य होनी चाहिए। इस दृष्टिसे हम श्रीअमितगतिका जन्मकाल वि० सं० १०२० के लगभग मान सकते हैं। पंचसंग्रह वि० संवत् १०७३ में समाप्त हुआ है, अतएव उस समय ये ५० वर्षसे ऊपर होंगे।

अपने ग्रन्थोंमें उन्होंने मुंज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनों मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। ये मुंज वही हैं जिनके विषयमें कहा गया है कि

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दं वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती॥ *

अर्थात् यशःपुंज मुंजराजके चले जाने पर लक्ष्मी तो विष्णुके पास चली जायगी और वीरश्री वीरोंके घर, परन्तु सरस्वती बिल्कुल निरावलम्ब हो जायगी उसका कोई आश्रयदाता न रहेगा।

मुंज सरस्वती और सरस्वती सेवकोंके ऐसे ही आश्रयदाता थे। उनका दूसरा नाम वाक्पतिराज था †। ये स्वयं भी विद्वान और कवि थे। उनका बनाया हुआ कोई स्वतंत्र ग्रन्थ तो अब तक नहीं मिला है, परन्तु कुछ ग्रन्थोंमें उनके कुछ पद्य मिलते हैं ‡। उनकी राजधानी उज्जयिनीमें थी ×। ये राजा सीयक, श्रीहर्ष या सिंहभटके पुत्र थे, बड़े ही पराक्रमी।

---

* मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि।

† प्रोत्सर्पत्पोषम्यगुणात इति प्रतापवसति स्थातेन मुंजाख्यया
यः एव वाक्पतिराजभूमिपतिना राज्येऽभिषिक्तः स्वयम्॥—तिलकमंजरी।

‡ मालवनरेश अर्जुनवर्मदेवने अमरुशतककी रसिक-संजीविनी टीकामें २२वें श्लोककी टीकामें यह कहकर एक पद्य उद्धृत किया है कि यह हमारे पूर्वज वाक्पतिराज अपरनाम मुंजका है।

× वाक्पतिराजके एक दान पत्र (इं० एण्टिक्वेरी, जिल्द ६, पृ० ५१-५२) और परिमलके नवसाहसांक चरितसे मालूम होता है कि मुंजके समय राजधानी उज्जयिनी थी। धाराको भोजदेवने अपनी राजधानी बनाया था।

कर्णाटक, लाट, केरल, चोलके राजाओंको उन्होंने जीता। कलचुरिनरेश युवराज देव (द्वितीय) को हराकर उसकी राजधानी त्रिपुरीको लूटा, मेवाड़पर चढ़ाई करके आहाड़को नष्ट किया और चित्तौरगढ़ और उसके पासके प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया। उन्होंने सोलंकी राजा तैलप द्वितीयको छह बार हराया, पर सातवीं बार गोदावरीके पासके युद्धमें वे कैद कर लिये गये और वि० सं० १०५० और १०५४ के बीच मार डाले गये। सुभाषितरत्नसंदोहकी रचनाके समय वे जीते थे। तिलकमंजरीके कर्त्ता धनपाल, नवसाहसांकचरितके कर्त्ता पद्मगुप्त या परिमल, दशरूपावलोक टीकाके कर्त्ता धनिक, पिंगल छन्द सूत्रके टीकाकार हलायुध और अमितगति इस राजाकी ही सभाके रत्न थे।

सिन्धुल, सिन्धुराज, कुमारनारायण या नवसाहसांक मुंजके छोटे भाई और प्रसिद्ध राजा भोजके पिता थे। पद्मगुप्तने इन्हींकी आज्ञासे 'नवसाहसांक-चरित' नामका ऐतिहासिक काव्य लिखा था। मुंजने अपने जीते जी ही भोजको गोद ले लिया था। परन्तु भोज नाबालिग थे, इसलिए मुंजकी मृत्युके समय सिन्धुल ही राजगद्दीपर बैठ गये थे। इन्होंने हूणोंको तथा दक्षिण कोशल, वागड लाट और मुरलवालोंको युद्धमें हराया था। ये गुजरात-नरेश सोलंकी चामुण्डराजके साथकी लड़ाईमें मारे गये।

इतिहासज्ञोंने वि० सं० १०५४ और १०६६ के बीच किसी समय इनके मारे जानेका अनुमान किया है।

भक्तामर-चरित, प्रबन्धचिन्तामणि, भोजप्रबन्ध आदि ग्रन्थोंमें राजा मुंजके द्वारा सिन्धुल के अन्धे किये जाने और भोजको वध करनेके लिए भेजनेकी जो कथायें लिखी हैं, वे सभी कपोलकल्पित मालूम होती हैं। इतिहाससे उनकी कोई पुष्टि नहीं होती।

आगे अमितगतिके ग्रन्थोंकी कुछ प्रशस्तियाँ उद्धृत कर दी गई हैं।

[अबसे लगभग ३० वर्ष पहले मैंने जैनहितैषीमें 'श्रीअमितगतिसूरि' शीर्षक लेख लिखा था, जो सन् १९१७ में 'विद्वद्रत्नमाला' में भी प्रकाशित किया गया था। उसी लेखको एक तरहसे आमूल संशोधन-परिवर्तन करके यह लेख लिखा गया है।]

ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ

सुभाषितरत्नसन्दोह—

आशीर्विध्वस्तकन्तोर्विपुलशमभृतः श्रीमत कान्तकीर्तिः
सूरेर्यातस्य पारं श्रुतसलिलनिधेर्देवसेनस्य शिष्यः।
विज्ञाताशेषशास्त्रो व्रतसमितिभृतामग्रणीरस्तकोपः
श्रीमान्मान्यो मुनीनाममितगतियतिस्त्यक्तनिःशेषसंगः ॥९१५

अलघ्यमहिमालयो विमलसत्वरत्नाकरो
धरास्थिरगभीरता गुणमणि पयोवारिधि
समस्तजनता सता श्रियमनश्वरीं दहिनां
सदाऽमृतजलच्युता विबुधसेवितो वत्तवान् ॥९१६

तस्य ज्ञातसमस्तशास्त्रसमय शिष्य सतामग्रणी
श्रीमान्माथुरसंघसाधुतिलक श्रीनेमिषेणोऽभवत् ।
शिष्यस्तस्य महात्मन शमयुतो निधूतमोहद्विप
श्रीमान्माधवसेनसूरिरभवत्क्षोणीतले पूजित ॥९१७

कोपारातिविघातकोऽपि सदय सामोऽप्यदोषाकरो
जैनोऽप्युप्रतरस्तपा गतभयो भातोऽपि संसारत ।
निष्कामोऽपि समिष्टमुक्तिवनितायुक्तोऽपि य संयत
सत्यारोपितमानसो घृतनृपोऽप्यच्य प्रियोऽप्यप्रिय ॥९१८

दलितमदनशत्रोर्भव्यनिर्व्याजबन्धो
शमदमयममूर्तिश्चन्द्रशुभ्रोरुकीर्ति ।
अमितगतिरभूद्यस्तस्य शिष्यो विपश्चिद्
विरचितमिदमर्घ्यं तेन शास्त्रं पवित्रम् ॥९१९

× × ×

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२

धर्मपरीक्षा—

सिद्धान्तपाथोनिधिपारगामी श्रीवीरसेनोऽजनि सूरिवर्य
श्रीमाथुराणां यमिनां वरिष्ठ कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठ ॥१

ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी तस्मात्सूरिर्देवसेनोऽजनिष्ट
लोकोद्योती पूर्वशैलादिवार्क शिष्टाभीष्ट स्थेयसोऽपास्तदोष ॥२

भासिताखिलपदार्थसमूहो निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथ
वासरो दिनमणेरिव तस्माज्जायते स्म कमलाकरबोधी ॥३

नेमिषेणगणनायकस्ततः पावनं वृषमधिष्ठितो विभु. ।
पार्वतीपतिरिवास्तमन्मथो योगगोपनपरो गणार्चितः ॥४
कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः ।
सोऽभवदस्माद्दलितमदोस्म यो यतिसारः प्रशमितसारः ॥
धर्मपरीक्षामकृतवरेण्यां धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम्
शिष्यवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठोऽनघगतिधामा ॥

पंचसंग्रह—

श्रीमाथुराणामनघद्युतीनां संघोऽभवद्वृत्तविभूषितानाम्
हारो मणीनामिव तापहारी सूत्रानुसारी शशिरश्मिशुभ्रः ॥१
माधवसेनगणी गणनीयः शुद्धतमोऽजनि तत्र जनीयः ।
भूयसि सत्यवतीव शशांक श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः ॥२
शिष्यस्तस्य महात्मनोऽमितगतिर्मोक्षार्थिनामग्रणी-
रेतच्छास्त्रमशेषकर्मसमितिप्रख्यापनायाकृत ।
वीरस्येव जिनेश्वरस्य गणभृद्भव्योपकारोद्यतो
दुर्वारस्मरदन्तिदारणहरिः श्रीगौतमोऽनुत्तमः ॥३

× × × ×

त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विष
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥६

उपासकाचार, भगवती आराधनाकी प्रशस्तियाँ कोई विशेषता न होने से नहीं दी गईं ।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में कतिपय जैनाचार्य

[लेखक—श्रीयुत वी० आर० रामचन्द्र दीक्षित, एम ए०]

श्रवणबेलगोल के कुछ शिलालेख[1] ऐसे हैं, जिनमें दक्षिण भारत के जैनाचार्यों की परम्परा का उल्लेख पाया जाता है, जो इस प्रकार है कुन्दकुन्द (कोण्डकुन्द), गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) बलाकपिच्छ, समन्तभद्र, शिवकोटि, देवनन्दी अथवा पूज्यपाद अकलंक आदि।

दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रसार करनेवालों में सबसे पहला स्थान पञ्चास्तिकायसार आदि के रचयिता कुन्दकुन्द का है। उपर्युक्त शिलालेखों में कुन्दकुन्द की जगह कोण्डकुन्द का नाम आया है। पञ्चास्तिकायसार की भूमिका में प्रोफेसर चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्द को ही तमिल ग्रन्थ तिरुक्कुरल का कर्त्ता ठहराया है। कुन्दकुन्दाचार्य का असल नाम पद्मनन्दी था। तिरुक्कुरल के कर्त्ता के सम्बन्ध में अब भी बहुत मतभेद है और तिरुवल्लुवर और कुन्दकुन्द को एक ठहराना बहुत कठिन है। एक अनुश्रुति से ऐसा पता चलता है कि एलालसिंह की सरक्षता में तिरुवल्लुवर ने कुरल की रचना की। यह कहा जाता है कि एलालसिंह का एलाचार्य होना सम्भव है[4] और एलाचार्य कुन्दकुन्द का दूसरा नाम है—यद्यपि इस सम्बन्ध में सन्देह भी उपस्थित किया जाता है। यदि नाम-सम्बन्धी यह एकता सम्भव भी हो, तो भी इस तर्क में कोई जोर नहीं है विशेषकर उस दशा में, जब कि वह अनुश्रुति के कमजोर धागे के सहारे लटकी हुई है और सन्देहपूर्ण एकता पर ही अवलम्बित है। कुरल में उच्चतम जैन-दर्शन और धर्म का उल्लेख है, फिर भी कुरलवेण्वा इसका प्रतिपादन करता है कि कुरल का रचयिता उस देश के प्रचलित धर्म का अनुयायी था, अर्थात् दूसरे शब्दों में ब्राह्मण धर्म का माननेवाला था। लेकिन कुरल का कर्त्ता कुन्दकुन्द को ठहराने की बात छोड़कर यह निश्चित है कि ईसा की पहली सदी में दक्षिण भारत में कुन्दकुन्द नाम के एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं।[3] यदि यह ठहराया जाय कि ये गुप्तिगुप्त के बाद ही हुए हैं तो यह विशेष असंगत नहीं कहा जा

१ उदाहरण के लिए १११२ का शिलालेख न० ६७ देखिए

२ ए० चक्रवर्ती द्वारा अनुवादित एवं सम्पादित, १९२० ।

३ इन्हीं आचार्य के दूसरे नाम हैं—वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ । S. II. L. P 15) एक दूसरा मत है कि वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ कुन्दकुन्द से भिन्न थे ।

४ मेरी पुस्तक Studies in Tamil Literature and History का तिरुवल्लुवर प्रकरण देखिए ।

सकना और यह अनुश्रुति से बहुत कुछ मेल भी खाता है। अनुश्रुति के अनुसार इनके आचार्यत्व प्राप्त करने का समय ईसा से ८ वर्ष पूर्व है। इस समय इनकी अवस्था ४४ वर्ष की थी।※

इस प्रकार आचार्य की तिथि निश्चित हो जाती है। विद्वानों ने जो इनका समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा के बाद छठी सदी के बीच ठहराया है, यह किसी पुष्ट प्रमाण के आधार पर नहीं है। राजा शिवकुमार को, जिनके लिये कुन्दकुन्द ने ग्रन्थ-रचना की, पल्लवराजा शिवस्कन्द अथवा कदम्बराजा शिवमृगेश वर्मन बतलाना बिलकुल तथ्यहीन है। शिवकुमार अवश्यमेव एक छोटे-से जागीरदार रहे होंगे, जिनके बारे में पूरी-पूरी बातें मालूम नहीं हैं। खैर, कुछ भी हो, इतना अवश्य माना जा सकता है कि कुन्दकुन्द ईसा के पूर्व पहली सदी के पूर्वार्ध में हुए।

यह तो निर्विवाद है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े आचार्य थे। दक्षिण भारत के चार दिगम्बर संघों में से तीन अपना सम्बन्ध इस आचार्य के साथ बतलाते हैं। वे तीन संघ ये हैं: नन्दिसंघ, सिंहसंघ तथा श्री यापनीयसंघ। चौथा संघ, जिसका नाम मूलसंघ है, अपना सम्बन्ध वृषभसेन से बतलाता है।

पंचास्तिकायसार के अलावा इनके और दो ग्रन्थ हैं, जो प्राकृत में हैं और जिनका नाम है प्रवचनसार और समयसार। प्रवचनसार का सम्पादन प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने किया (१९३५ बम्बई) है। अनुश्रुति इन्हें कुछ और भी छोटेमोटे ग्रन्थों का रचयिता बतलाती है। उनके प्रधान-प्रधान ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ बतला देना आवश्यक है। पंचास्तिकायसार का विषय है समय या समवाय और उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—इन पाँच अस्तिकायों का विवेचन किया गया है। प्रवचनसार शिक्षा-सम्बन्धी ग्रंथ है तथा जैन-साधु-सम्प्रदाय में प्रवेश करनेवालों के लिए व्यावहारिक रीति-नीति बतलानेवाला ग्रन्थ है। उसमें तपश्चर्या पूर्ण जीवन का प्रारंभ करने के पहले अध्यात्म-चिन्तन पर जोर दिया गया है। समयसार में काम से आत्मा की मुक्ति और आत्मज्ञान के सम्बन्ध में विचार किया गया है। जो इन अनुभूतियों को प्राप्त कर लेता है, उसे ही ज्ञानी माना गया है। इन तीनों ग्रन्थों की विशद टीकाएँ लिखी गई हैं। टीकाकारों ने जो इन तीनों ग्रन्थों को 'नाटकत्रयी' के नाम से पुकारा है, यह उचित ही है। इनमें से प्रत्येक ग्रन्थ 'नाटक' कहलाने के योग्य है।

आचार्यों की सूची में दूसरा नाम उमास्वाति का आता है। सम्भवतः कुन्दकुन्द के बाद उमास्वाति ही आचार्यपद के उत्तराधिकारी हुए। श्रवणबेल्गोल के शिलालेख के अनुसार उमास्वाति का अपर नाम गृध्रपिच्छ (गृद्ध्रपिच्छ) था। इससे यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्द का अपर नाम गृद्ध्रपिच्छ नहीं था। हमारा अनुमान है, एक अस्पष्ट जनश्रुति के

※ देखिये Intro P, VII, Sravana Bel, Ins 105 (Ec. II 154 dated 1938)

आधार पर ही कुन्दकुन्द को गृद्धपिच्छ मान लिया गया है। उमास्वाति का यह नाम कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में एक कहानी प्रचलित है, जो इस प्रकार है उमास्वाति ने एक बार जैन सिद्धांत सम्बन्धी शंका हल करने के लिये तीर्थंकर श्रीमन्धर के पास जाने की इच्छा की। तीर्थंकर विदेह में थे। उमास्वाति मयूरपिच्छ लेकर अपने स्थान से विदेह के लिये आकाशमार्ग से चले। मयूरपिच्छ बीच में गिर गया। उन्होंने उसके स्थान पर गृद्धपिच्छ[1] धारण कर लिया। तभी से उनका नाम गृद्धपिच्छ पड़ गया। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र नामक एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इस में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब कि कुन्दकुन्द ने अपनी रचना के लिये प्राकृत का आश्रय लिया, उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ संस्कृत में लिखे।[2] वास्तव में उमास्वाति संस्कृत को प्रश्रय देनेवाले पहले जैन गुरु थे। सर्वज्ञता आदि सिद्धान्तों के वर्णन में उन्होंने कुन्दकुन्द का अनुसरण किया है।[3] दोनों ने 'नय' का उल्लेख किया है। 'नय' एक दृष्टिकोण है जो साधारणतः श्वेताम्बरों के भी अर्द्धमागधी धर्मग्रन्थों[4] में भी प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ का अन्तिम पद्य उमास्वाति और गृद्धपिच्छ के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। वह इस प्रकार है

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारम् गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वातिमुनीश्वरम्॥

उमास्वाति का समय निर्धारित करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित आधार नहीं मिल सका है। अनुश्रुति उन्हें कुन्दकुन्द का समसामयिक भी बतलाता है और उनका उत्तराधिकारी भी। फिर भी कुन्दकुन्द के समय के हिसाब से उमास्वाति का समय ईसा के बाद पहली सदी का पूर्वार्ध बतलाया जा सकता है।

बलाकपिच्छ उमास्वाति के पट्टशिष्य थे जिनका समय ईसा के बाद पहली सदी का अंतिम भाग बतलाया जाता है।[5] सचमुच यह बड़े खेद की बात है कि इन बड़े जैन आचार्यों की जीवनी और उनके ग्रन्थों के बारे में हमें कुछ भी मालूम नहीं है।

५४वें शिलालेख से मालूम होता है कि समन्तभद्र के हाथों जैनधर्म के प्रसार में बहुत सहायता मिली। शिलालेख में इस बात का उल्लेख है कि समन्तभद्र एक गण के, जो देवी पद्मावती का भक्त था, मुखिया तथा आचार्य थे।

---

१ Ec II 6916 Ibid देखो Intro pp 26 ff

२ देखो भूमिका तत्त्वार्थ श्लोक-वार्तिक बम्बई।

३ B देखो उपाध्ये, op cit P lxxx

४ Ibid lXXXV;

५ Ec ii ६७, ६६ आदि।

उन्होंने स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थ किए और जैनधर्म का प्रचार किया। शास्त्रार्थ करने के लिए वे कितने उत्सुक रहते थे, यह करहाटक (कोल्हापुर) के उनके वक्तव्य से मालूम होता है : "सर्वप्रथम मैंने पाटलिपुत्र मे विजय की डंका बजाई, इसके बाद मालव, सिन्धु, ठक्क, कांचीपुर और वैदिशा मे। इस समय मै करहाटक मे पहुचा हुआ हूँ, जो योद्धाओं और विद्वानों का केन्द्रस्थान है तथा घनी आबादीवाला है। मैं शास्त्रार्थ के लिए उत्सुक हूँ। हे नरेन्द्र, मै सिंह के समान अपने प्रतिद्वन्द्वियो से खेल करता हूँ। जब शास्त्रार्थी सामन्तभद्र राजसभा मे खड़ा होता है, हे नृपेन्द्र, तब धूर्जटि (शिव) को जिह्वा भी, जो स्पष्ट तथा निपुणतापूर्वक बोलने मे कुशल है, शीघ्र ही गले मे पीछे की ओर मुड़ जाती है। दूसरों से क्या आशा की जा सकती है ?"

समन्तभद्र ने आप्तमीमासा की रचना की, जिसमे स्याद्वाद-सिद्धान्त की विवेचना है। इनके दूसरे ग्रन्थ का नाम रत्नकरण्डकश्रावकाचार है। इन्होंने सर्वज्ञता-सिद्धांत का प्रचार किया, जो जैन-दर्शन का बहुत मुख्य अंग है। समन्तभद्र के बाद कई शताब्दियों तक विद्वानों के लिए यह केवल एक विशेष विवेचना का विषय था, लेकिन कुछ काल बाद यह एक बहुत महत्त्व का विषय हो गया और इसके मनोवैज्ञानिक पहलू पर अधिक जोर दिया जाने लगा। उपनिषदों की इस उक्ति को कि ईश्वर 'स्वयंभू' है, (जैनो के अनुसार ईश्वर आत्मा का ही विकसित रूप है) हमारे आचार्य ने अपने स्वयंभू-स्तोत्र[1] मे इसका विशद रूप दिया है यहां यह कहना व्यर्थ है कि समन्तभद्र दिगम्बर-सम्प्रदाय के थे तथा इनका समय राष्ट्रकूटो के काल का पूर्वार्ध बतलाया जाता है। यद्यपि कोई उपयुक्त प्रमाण नही मिलता फिर भी मि० ए० बी० कीथ साहब ने इनका समय ईसा के बाद ७वीं शताब्दी निश्चित किया है, पर उन्होंने कोई प्रमाण नही दिया है।[2] लेकिन जैन अनुश्रुति के अनुसार इनका समय ईसा के १३८ वर्ष बाद निश्चित किया गया है।[3]

श्रवणबेलगोल के ५४वे शिलालेख से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने पाटलिपुत्र से सिन्धु तक की तथा सिन्धु से काञ्ची तक की यात्रा की। समन्तभद्र के बाद जैनधर्म का प्रचारकार्य और भी अधिक व्यापक रूप से होने लगा।

इन लोगों के बाद महत्त्व के व्यक्ति शिवकोटि है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'भगवती-आराधना' है। परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इनके सम्बन्ध मे हमे

---

१ देखो उपाध्ये, op cit P Xcii n

२ A History of Sanskrit Literature, P. 497

३ देखो १८८३ और १८८४ की संस्कृत की हस्तलिखित प्रतियों को खोज के सम्बन्ध में डॉ० भंडारकर की रिपोर्ट, पृ० ३२०।

अधिक ज्ञान नहीं है। दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति पूज्यपाद हैं, जो वनदेवताओं के भी पूज्य हैं। इनकी विदेह की यात्रा बहुत प्रसिद्ध है और इसके सम्बन्ध में अनुश्रुतियों और शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। 'राजावलिकथे' में इनकी विचित्र शक्ति,[१] विशेष कर वैद्य के रूप में, वर्णित है। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि वे ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रहे होंगे।[२] संस्कृत रचना की दश भक्तियाँ इन्हीं की बतलाई जाती हैं। इनके एक विशेष प्रचलित ग्रन्थ का नाम 'समाधिशतक' है।[३]

परन्तु समन्तभद्र के बाद आचार्यों की श्रेणी में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जो आते हैं, वे हैं अकलंक। श्रवणबेल्गोल के ५४वें शिलालेख से मालूम होता है कि अकलंक का एक दूसरा नाम दनाकलग पठित था। उसी अभिलेख में यह भी बतलाया गया है कि उन्होंने ईसा के बाद ८वीं सदी में काञ्ची में बौद्ध विद्वानों को हराया था। कहा जाता है कि उन्होंने तारा को हराया था, और वे धर्म के ढोंगी आचार्यों के लिए दुःखप्रद थे, तथा अपने धर्म के अनन्यभक्त थे। उन्होंने राजा साहसतुङ्ग (कदाचित् एक राष्ट्रकूट राजा) को यह सूचित किया था कि हिमशीतल की राजसभा में जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें उन्होंने विजय प्राप्त की थी। हिमशीतल काञ्ची का अन्तिम बौद्ध राजा था। इस पराजय के फलस्वरूप बौद्धों का निर्वासन कर दिया गया, और वे लंका को चले गए। मेकेञ्जी संग्रह (Mackenzie Collection P 40) की भूमिका में मि० विल्सन ने बतलाया है कि अकलंक की विद्वत्ता का कायल होकर काञ्ची का अन्तिम बौद्ध शासक, हिमशीतल, जैनधर्मानुयायी हो गया था।

उपर्युक्त कथनों से एक बात स्पष्ट मालूम होती है कि दक्षिण भारत में ईसा के बाद ६ठीं सदी से लेकर ८वीं सदी तक का काल जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों और साथ साथ शैव और वैष्णवों के बीच विद्वत्तापूर्ण धार्मिक वाद विवाद का काल था। सभी सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिये आतुर तथा उन्हें जनसाधारण में पहुँचाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहते थे। यद्यपि जैन विद्वानों ने बौद्ध विद्वानों को विजित करने में सदा सफलता पाई तथापि प्रचलित प्राचीन धर्म के अनुयायियों से वे हारते गए (?) जिनमें अधिकतर तमिल 'तेवारम्' और 'दिव्यप्रबन्धम्' के रचयिता थे।

१ Ec ii १७, २१७, २५८।

२ IA vol X P P ७५ १ और vol XII P P १३— ११

३ सनातन जैन ग्रन्थमाला विभाग vol I (बम्बई १९०५)

* Indian Culture Vol VIII No I में प्रकाशित लेख का अनुवाद।

अनुवादक—राघव

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ४)†

[लेखक—श्रीयुत प्रोफेसर जगदीशचन्द्र, एम० ए०]

अनेकांत (४—१) मे "प्रो० जगदीशचन्द्र के उत्तर-लेख पर सयुक्तिक सम्मति" नाम से एक सम्मति प्रकाशित हुई है। सम्मति में पं० जुगलकिशोर जी के मत का समर्थन करते हुए यह बताया गया है कि अकलंक के समक्ष श्वेताम्बरीय स्वोपज्ञ-भाष्य किसी हालत में मौजूद नही हो सकता। आश्चर्य है कि अपने विरुद्ध, सयुक्तिक लेखों को तो अनेकांत में छापने के लिये भरसक टालमटोल की जाती है, और पत्रों का उत्तर तक नहीं दिया जाता, तथा इस तरह के युक्तिविहीन भ्रमोत्पादक लेखो को सयुक्तिक बताकर अपनी 'वाह वाह' की घोषणा की जाती है। सम्मति में मेरी युक्तियों का खण्डन करनेवाली कोई भी नई दलील नही है। इनमे प्रायः सब बातों का उत्तर लेखांक (३) मे दिया जा चुका है। सम्मति-लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने इससे पहले के दो लेखों को नहीं पढ़ा है। लेकिन मालूम होता है कि उन्होंने मेरे लेखांक (३) को भी अच्छी तरह नहीं पढ़ा और जल्दी मे आकर वे सम्मति देने बैठ गये हैं। इस सम्मति में जो एक-दो नई सूझवाली दलीलें पेश की हैं, वे कितनी हास्यास्पद हैं, यह बात निम्न लेख से स्पष्ट होगी।

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

आक्षेप—जिस ग्रन्थ पर राजवार्त्तिक टीका लिखी जा रही है, उसी ग्रन्थ के ऊपर किये गये आक्षेप का उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नही किया जाता, उसके लिये उस ग्रन्थ के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ के प्रमाण की आवश्यकता होती है। अत. राजवार्तिकगत "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" उल्लेख में अर्हत्प्रवचन का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र नहीं हो सकता।

उत्तर—इसका विस्तृत उत्तर लेखांक (३) मे दिया जा चुका है। वहाँ बतलाया गया है कि 'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने' आदि राजवार्तिकगत वाक्य "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र की टीका मे आया है। तथा "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र तक तत्त्वार्थसूत्र मे 'गुण' के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई। इसके अतिरिक्त 'गुण' (गुणार्थिकनय) के विषय मे कुछ श्वेताम्बर जैन आचार्यों का मतभेद भी है। ऐसी हालत मे जिस सूत्र-ग्रन्थ पर अकलंक वार्त्तिक लिख रहे हैं, उस सूत्र-ग्रन्थ का प्रमाण देना उनके लिये आवश्यक हो जाता है। तथा साथ ही यह न

† इसमे पहले तीन लेख क्रम से अनेकांत ३-४ ३-११, तथा जैन सत्यप्रकाश, अहमदाबाद ६—४ में नकल चुके हैं।

भूल जाना चाहिये कि अकलंक ने "अन्यत्र चोक्तं" कह कर अपने कथन के समर्थन में किसी पूर्ववर्ती ग्रंथ की गाथा भी उद्धृत की है।

स्वयं सम्मति लेखक ने "तद्भावाव्ययं नित्यं", 'भेदादणु" आदि सूत्रों के उल्लेखपूर्वक राजवार्तिकगत ऐसे बहुत से स्थलों को स्वीकार किया है जहाँ "पूर्व कथित सिद्धि में आगे के सूत्र उपन्यस्त हैं।" आगे चलकर तो इन महोदय ने "वृत्तौ पंचत्ववचनात्" आदि राजवार्तिकगत वार्तिकवाक्य का मनोनीत भाष्य करते हुए, यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि अकलंक ने अपने उक्त वाक्यद्वारा उमास्वाति की सौत्रीरचना पर शंका उठा कर, उसका समाधान "इति चेन्न" वाक्य से करते हुए, तत्त्वार्थगत 'कालश्च" सूत्र से अपने कथन की पुष्टि की है। इससे ऊपर जो आक्षेपरूप में प्रतिज्ञावाक्य दिया गया है उसका स्वतः ही खण्डन हो जाता है। अन्यथा "कालश्च" सूत्र को भी किसी अनुपलब्ध 'अर्हत्प्रवचनहृदय' आदि भाष्य का सूत्र स्वीकार करना पड़ेगा। वास्तव में देखा जाय तो यह तर्क ही ठीक नहीं कि जिस ग्रंथ पर टीका लिखी जा रही है, उस ग्रंथ पर उठाई गई शंका का परिहार उसी ग्रंथ द्वारा नहीं किया जा सकता। यह बात कदाचित् मौलिक ग्रंथों के विषय में ठीक हो सकती है। सूत्र ग्रन्थों पर टीका आदि लिख कर जो ग्रन्थ बनाये जाते हैं उनके विषय में नहीं। इसीलिये सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सिद्धसेनीय तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति, ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य आदि ग्रन्थों में अनेक जगह कोई शंका आदि उपस्थित होने पर सूत्रकार के सूत्रों को उद्धृत करके शंका का परिहार किया गया है।

'अर्हत्प्रवचन' का अर्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' ही हो सकता है, भाष्य नहीं, इसका उत्तर भी लेखांक (३) में शास्त्रों के उद्धरणपूर्वक दिया जा चुका है। यह बात तो मैं भी नहीं कहता हूँ कि "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" सूत्र तत्त्वार्थभाष्य का कोई अंश या पाठ है देवगुप्तसूरि और सिद्धसेनगणि के उल्लेखों द्वारा मैं बतला चुका हूँ कि तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थ भाष्य दोनों ही 'शास्त्र', तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थाधिगम' के नाम से कहे गये हैं, तथा तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, अर्हत्प्रवचन अर्हत्प्रवचनाधिगम, अर्हत्प्रवचनसंग्रह और तत्त्वार्थाधिगम संग्रह ये नाम एक ही ग्रंथ के सूचक हैं। अतएव (यदि अ, ब=क, प, फ=क, इसलिये अ, ब=प फ—इस बीज गणित के अनुसार) 'अर्हत्प्रवचन' का वाचक केवल मूल तत्त्वार्थसूत्र न मानकर सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र मानना होगा।

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

आक्षेप—पं० जुगलकिशोर जी ने 'इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः" इस टीका वाक्य में जो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' यह पद सप्तम्यन्त

माना है सो ठीक नहीं। यह पद वास्तव में प्रथमा का द्विवचन है। क्योंकि भाष्य शब्द नित्य नपुंसक है। इसलिये इस वाक्य का यह अर्थ होना है कि—'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वातिप्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं, उसमें सिद्धसेनगणिविरचित भाष्यानुसारी टीका है', आदि। यदि ग्रन्थकर्त्ता को सप्तम्यन्त पद ही देना था तो सप्तमी का द्विवचनान्त देना ही ठीक प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि सूत्र और भाष्य का एकत्व दिखाने के लिये सप्तमी का एकवचन है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि एकता एककर्तृत्व की दिखलाई जा सकती है। टीकाकार को यदि भाष्य को 'स्वोपज्ञ' ही बतलाना था तो स्पष्ट भाष्य के साथ भी 'स्वोपज्ञ' या 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' ऐसा कोई विशेषण लगाना था।

उत्तर—कहने की आवश्यकता नहीं ऊपर जो व्याकरण का पांडित्य बताया गया है, वह व्याकरणशून्यता है। शास्त्री जी को शायद मालूम नहीं कि उक्त वाक्य श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेनगणि के हैं, जो भाष्य को स्वोपज्ञ मानकर उसपर टीका लिख रहे हैं। शास्त्री जी की विद्वत्ता का यह एक नमूना है कि स्पष्टरूप से तत्त्वार्थभाष्य की स्वोपज्ञता के सूचक सिद्धसेन के "इति श्रीमदर्हत्प्रवचने" आदि वाक्यों से ही, वे भाष्य की अस्वोपज्ञता सिद्ध करने को तुले हुए हैं। यह एक बिलकुल मोटी सी बात है कि कम से कम उक्त संधिवाक्यों से तो त्रिकाल में भी भाष्य की अस्वोपज्ञता का अर्थ नहीं निकल सकता, उसके लिये तो अन्य प्रमाणों की ही आवश्यकता होगी। सिद्धसेन ने साफ शब्दों में "सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारः" कह कर भाष्यकार और सूत्रकार का अभेद सूचित किया है। समझ में नहीं आता फिर भी ये विद्वद्वय सिद्धसेन के वाक्यों को तोड़मरोड़ कर उनमें दूषित अर्थ निकालने का क्यों प्रयत्न करते हैं। उक्त संधि वाक्य में भी सूत्र और भाष्य का एककर्तृत्व बताने के लिये ही 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' यह समासांत सप्तम्यंत अखंड पद दिया गया है। जिसका स्पष्टार्थ है 'उमास्वातिकृत सूत्र और भाष्य में।' सूत्र और भाष्य का एक कर्त्ता होने की हालत में न तो यहाँ सप्तमी के द्विवचन की ज़रूरत है और न सूत्र और भाष्य के लिये अलग अलग 'स्वोपज्ञ' अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषणों की आवश्यकता। थोड़ी देर के लिये यदि उक्त पद को प्रथमा का द्विवचन मान भी लिया जाय तो उससे यह कैसे फलित होगा कि सूत्र और भाष्य एककर्तृक नहीं हैं। 'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वातिप्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं, उसमें सिद्धसेनगणिविरचित भाष्यानुसारी टीका है'—इस अर्थ से पं० जुगलकिशोर जी के मत का कैसे समर्थन होता है, सो समझ नहीं पड़ता। तथा यहाँ 'उसमें' यह अर्थ कहाँ से आ गया? यदि थोड़ी देर के लिये समझ भी लिया जाय कि सिद्धसेन के अनुसार सूत्र और भाष्य के बनानेवाले भिन्न भिन्न हैं (यद्यपि सूत्र और भाष्य को एककर्तृक मान कर ही उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी है) तो शास्त्री

जी द्वारा प्रतिपादित उक्त अर्थ में भाष्य' शब्द कहाँ से कूद पड़ा ? तथा उस भाष्य का कर्ता कौन है जिस पर ग्रंथकार टीका लिख रहे हैं ? यदि यहाँ उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रे' जैसा कोई पद होता तो कदाचित् उक्त कथन का समर्थन हो सकता था। तथा अर्हत्प्रवचन' शब्द भी नपुंसकलिंग है, फिर इसे भी प्रथमा का द्विवचन क्यों न माना जाय ? तथा 'इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्याय" इत्यादि सन्धिवाक्यों का क्या अर्थ होगा ? 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद में जो 'उमास्वाति वाचकोपज्ञ' उद्देश्य है, वह अपने विधेय 'भाष्य' पद के साथ तो अवश्य ही जायगा, चाहे थोड़ी देर के लिये, वह सूत्र' के साथ न भी जाय। अतएव मैंने अपने पूर्व लेख में अर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इन पदों को समानाधिकरण बताकर जो अर्थ किया है वही अर्थ ठीक है। सिद्धसेन, सूत्र और भाष्य को एक मानकर उस पर टीका लिख रहे हैं। ऐसी हालत में उन्हीं के वाक्यों में भाष्य की अस्वोपज्ञता कभी भी सिद्ध नहीं की जा सकती। वे तो स्पष्टरूप से भाष्य को स्वोपज्ञ ही मानते हैं। तथा इसी सूचना को लिये हुए उनके उक्त सन्धिवाक्य हैं।

(३) वृत्ति

आक्षेप—'वृत्तौ पञ्चत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात्', इस वार्तिक का यह अभिप्राय होता है कि 'वृत्तौ'—रचनायां (सूत्ररचनायां) सूत्ररचना में, 'पञ्च'—पाँच द्रव्य हैं, तु'—पुनः या अर्थात्, 'अवचनात्'—छह का कथन न होने से, 'षड्द्रव्योपदेशव्याघात'—षड्द्रव्य का उपदेश नहीं बन सकता। ऐसी शंका का समाधान 'इति चेन्न' शब्द से किया गया है, सो स्पष्ट ही है। इस वार्तिक का जो भाष्य है उसका अभिप्राय भी यही होता है—'वृत्ति'—सूत्ररचना में धर्मादिक द्रव्य अवस्थित हैं, वे कभी पंचत्व से व्यभिचरित नहीं हो सकते। इसलिये षड्द्रव्य का उपदेश नहीं बनता। उसका उत्तर अकलंकदेव ने 'कालश्च' सूत्र से देकर अपने कथन की पुष्टि की है। यह चर्चा "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" सूत्र की व्याख्या में की गई है। यहाँ तक सौत्रीय पद्धति में काल का कोई भी उल्लेख नहीं आया है। इसलिये पंचत्वविषयक शंका करना बिल्कुल आयज है। इस प्रसंग पर यदि राजवार्तिक को भाष्य पर की गई शंका का ही निरसन करना अभीष्ट था, तो भाष्यगतसूत्र के उल्लेख से ही इसका निरसन करते। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि भाष्यगत शंका का समाधान अकलंक-सरीखे विद्वान् भाष्यगत सूत्र से न करके दिगम्बरगत सूत्र से करें। खण्डन मण्डन के शास्त्रों में 'न हि कश्चित्' आदि शब्द प्रायः आ ही जाते हैं, इसलिए ये शब्द भाष्य में हैं और यही शब्द राजवार्तिक में भी हैं। इसलिए राजवार्तिक के सामने भाष्य था, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

उत्तर—शास्त्री जी के पांडित्य का यह दूसरा नमूना है। ऊपर आपने सिद्धसेनगणि के वाक्यों को तोड़ मरोड़कर जो दूषित अर्थ निकालना चाहा है, वैसा ही अर्थ आप अकलंकदेव के वाक्यों का निकालना चाहते हैं। उक्त वार्त्तिकवाक्य पर स्वयं अकलंकदेव का भाष्य है, जिसमें उक्त वार्त्तिक का स्पष्टार्थ दिया गया है। फिर भी शास्त्रीजी को अपना भाष्य अलग बनाने की क्या ज़रूरत हुई, सो समझ में नहीं आता। क्या अकलंकदेव का भाष्य आपको मान्य नहीं? अथवा उससे अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता? 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्र-रचना' करके तो सचमुच शास्त्री महोदय ने कलम तोड़ दी है। क्या आप कृपा करके बतायेंगे कि किस कोष के अनुसार उक्त अर्थ किया जा रहा है? क्या कोई ऐसा एकाक्षरी कोष आपके पास मौजूद है जिसमें वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना दिया है? अकलंक ने 'पंचत्ववचनात्' का अर्थ भी 'पंच तु अवचनात्' कहीं नहीं किया है। न मालूम 'अवचनात्' पद से 'छह का कथन न न होने से' यह अर्थ ज़बर्दस्ती कैसे निकाला जा रहा है। उक्त वार्त्तिक वाक्य पर अकलंक का भाष्य निम्न प्रकार से है—'स्यान्मतं वृत्तौ उक्तम् ' अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति, ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति।" अर्थात् वृत्ति में कहा है—"अवस्थितानि, धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति"; अतएव षड्द्रव्यके कथन का व्याघात होगा। पंचत्ववचनात्' का अर्थ खींचतान कर यदि 'पंच तु अवचनात्' किया भी जाय, तो उसका केवल इतना ही अर्थ हो सकता है कि 'पाँच का तो कथन नहीं किया', जो कथन अकलंक के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि वे कहना चाहते हैं कि 'पाँच का कथन किया है।' फिर भी कदाचित् शास्त्रीजी के उक्त अर्थ को स्वीकार किया जाय, तो प्रश्न होता है कि उमास्वाति की वह कौन-सी सूत्ररचना है जिसमे "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" ये वाक्य सूत्ररूप से पाये जाते हैं। यहाँ फिर से बताने की आवश्यकता नहीं कि उमास्वातिकृतवृत्ति (भाष्य) मे उक्त वाक्य निम्नप्रकार से उपलब्ध होते हैं—"अवस्थितानि च। न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति।" इससे निश्चित है कि राजवार्त्तिक में 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो वाक्य उद्धृत हैं, वे वाक्य न किसी 'सूत्ररचना' के हैं और न अनुपलब्ध शिवकोटिकृत वृत्ति के, बल्कि उक्त वाक्य श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्य के हैं।*

* – 'आकाशग्रहणमादौ' इत्यादि वार्त्तिकगत (राजवार्त्तिक पृ० १९१) 'धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' आदि वाक्योल्लेखपूर्वक 'वृत्ति' शब्द का वाच्य जो स्वयं राजवार्त्तिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, वह भी भ्रममूलक है। राजवार्त्तिकगत 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि उल्लेख का प्रस्तुत उल्लेख के साथ कोई संबंध नहीं। प्रस्तुत उल्लेख में ग्रंथकार कहना चाहते हैं कि धर्मादि पाँच द्रव्यों का आधार आकाश है, अतएव 'अजीवकाया" आदि सूत्र में आकाश का ग्रहण प्रथम होना चाहिये; जब कि 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' वाले उल्लेख में अकलंक का आशय दूसरा ही है। इसके अतिरिक्त राजवार्त्तिक का 'वृत्ति' के नाम से कहीं उल्लेख नहीं मिलता; वृत्ति को लेकर ही वार्त्तिक लिखा जाती है (वृत्ति. प्रयोजनमस्य वार्त्तिकम्—हेमचन्द्र)।

राजवार्तिक और तत्त्वार्थभाष्य के उक्त वाक्यों के प्राय अक्षरशः समानरूप से उपलब्ध होने पर भी यह कहना कि खंडन मंडन के शास्त्रों में "न हि कदाचित्" आदि शब्द प्राय आ ही जाते हैं," आग्रह की चरम सीमा है। प्रस्तुत प्रकरण में खंडन मंडन का कोई भी विषय नहीं है। एक बात और है कि अकलंक ने 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र में ही द्रव्यपंचत्व विषयक शंका क्यों उठाई? यदि प्रस्तुत प्रसंग में वृत्ति का वाच्य कोई ग्रंथविशेष न होकर 'सूत्ररचना' ही है, तो उक्त सूत्र के पूर्व भी अनेक स्थलों पर षड्द्रव्य चर्चा का प्रसंग आया, परन्तु उन स्थलों पर सौत्री रचना की संगति क्यों न बैठाई गई? खास करके 'द्रव्याणि' और 'जीवाश्च' सूत्र तो इसके लिए और भी उपयुक्त थे। अतएव 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' किसी भी हालत में नहीं हो सकता। इसका वाच्य कोई ग्रन्थ विशेष है, और वह ग्रंथ उमास्वातिकृत भाष्य है, जहाँ 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र के भाष्य में ही उक्त वाक्य आया है। इसी भाष्य से उठाकर अकलंक ने अपने ग्रंथ में 'उक्तं' कह कर इस वाक्य को दिया है। इसलिए मानना होगा कि अकलंक की उक्त शंका उक्त भाष्य को लेकर है। अब यदि इस शंका का समाधान अकलंक स्वयं भाष्यगत 'कालश्चेत्येके' सूत्र से करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अकलंक, दिगम्बराम्नाय के प्रतिकूल होने पर भी, भाष्य को सूत्ररूप से स्वीकार कर लेते हैं, तथा सर्वार्थसिद्धिगत दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' ही है जिसको सामने रखकर वे अपना वार्तिक लिख रहे हैं। ऐसी हालत में 'कालश्च' सूत्र ही प्रमाणरूप से देकर शंका का परिहार किया जाना उचित था, जो अकलंक ने किया है। पूर्वलेख में बताया जा चुका है कि द्रव्यपंचत्व की शंका दिगम्बरों के यहाँ इसलिए नहीं उठ सकती कि उनके यहाँ तो निश्चित रूप से छह द्रव्य ही माने गये हैं जब कि श्वेताम्बरीय उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी 'पंचद्रव्य' और 'षट्द्रव्य' की आगमगत दोनों मान्यतायें मौजूद हैं।

(४) भाष्य

आक्षेप—(क) राजवार्तिकगत 'भाष्य' पद का वाच्य सर्वार्थसिद्धि या स्वयं राजवार्तिक ही हो सकता है। सर्वार्थसिद्धि भाष्य क्यों है? इसका उत्तर—स्वमत और परमतनिराकरण-रूप भाष्य का अर्थ होता है, तथा वृत्ति और भाष्य एकार्थ वाचक भी होते हैं, दूसरे सर्वार्थसिद्धि की लेखनशैली पातञ्जल भाष्य सरीखी भी है, तथा सर्वार्थसिद्धि में 'षड्द्रव्याणि' का उल्लेख दो तीन जगह दीख ही रहे हैं। इसी तरह राजवार्तिक में भी कई जगह उल्लेख हैं।

(ख) 'बहुकृत्वः' शब्द का अर्थ 'बहुत बार' होता है। बहुत कोशिश करने पर भी 'षड्

१ उदाहरण के लिये देखो—श्रुत मतिपूर्वं आदि सूत्र का १२वां वार्तिक पृ० ५२; मतिश्रुत यानिबन्धो आदि सूत्र की २२वों वार्तिक, पृ० ६०, तथा तदनन्त कालविभाग सूत्र की ११वां वार्तिक, पृ० १२६।

द्रव्याणि' इस प्रकार के शब्दों को श्वे० भाष्य में नहीं बताया जा सका, केवल 'षट्त्व', 'षड्विधं' आदि वाक्य ही सिद्ध हो सके।

(ग) 'पूर्वत्र' शब्द देने से संदेह हो सकता था कि वार्तिक में या भाष्य में, अतः अकलंक ने, 'भाष्ये' शब्द लिखा।

उत्तर- (क) पाठक देख सकते हैं कि स्वमतसमर्थन के लिये क्या क्या युक्तियाँ दी जा रही हैं। स्वयं पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि को 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम से सूचित किया है। यदि सर्वार्थसिद्धि भाष्य होता, तो वे उसे भाष्य लिखते। स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण मात्र से कोई ग्रन्थ भाष्य नहीं कहा जा सकता। तथा अन्य ग्रन्थों की शैली भी पातंजलभाष्य-सरीखी हो सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन सबको भाष्य कहा जायगा। यदि अकलंक को स्वार्थसिद्धि का कोई उल्लेख देना था, तो वे ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक दे सकते थे, अथवा तत्त्वार्थवृत्ति या वृत्ति नाम से देते, उन्हें उसे भाष्य कह कर देने की क्या आवश्यकता थी? इसके अलावा, यदि षड्द्रव्याणि' इस पद का ही खास आग्रह है, तो 'षड्द्रव्याणि' पद सर्वार्थसिद्धि में भी एक ही बार आया है। (दूसरी जगह 'षडपि द्रव्याणि' है)। ऐसी हालत में सर्वार्थसिद्धि को भाष्य बताना भ्रम है। वास्तव में सर्वार्थसिद्धि वृत्ति है और राजवार्त्तिक भाष्य है। जैसे राजवार्त्तिक को वृत्ति नहीं कहा जा सकता, वैसे ही सर्वार्थसिद्धि को भाष्य नहीं कहा जा सकता। हेमचन्द्राचार्य ने वृत्ति और भाष्य का अलग अलग लक्षण बताते हुए लिखा है कि "वर्तते अर्थावगमोऽत्रेति वृत्तिः" तथा 'भाष्यं सूत्रोक्तार्थप्रपंचकम्—भाष्यत इति भाष्यं। सूत्रे उक्तं अर्थं प्रपंचयति।" अर्थात् वृत्ति में साधारणरूप से मूल-ग्रंथ का अर्थ होता है, जब कि वह अर्थ भाष्य में विस्तार से किया जाता है। भाष्य और वृत्ति कचित् समानार्थक भी होते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि 'वृत्ति' 'भाष्य' हो जाय और 'भाष्य' 'वृत्ति' हो जाय।*

(ख) यह शंका पहले लेखों को न पढ़ने का परिणाम है। सम्पादक-'अनेकांत' ने अपने पूर्वलेख में "वाचकमुख्यस्य तु पंचैव" वाले उल्लेख द्वारा बहुत ज़ोरदार शब्दों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि भाष्यकार के मत से 'काल' कोई द्रव्य ही नहीं।

---

* तिलक जी ने टीका और भाष्य का भेद बतलाते हुए अपने गीतारहस्य में लिखा है—"भाष्य और टीका का बहुधा समानार्थी उपयोग होता है, परन्तु सामान्यतः टीका मूल ग्रंथ के सरल अन्वय और इसके सुगम अर्थ करने को ही कहते हैं। भाष्यकार इतनी ही बातों पर सन्तुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रंथ की न्याययुक्त समालोचना करता है और अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बताता है, और उसी के अनुसार वह यह भी बतलाता है कि ग्रंथ का अर्थ कैसे लगाना चाहिये"—विषय-प्रवेश पृ० ११।

उनके मत में तो पाँच ही द्रव्य हैं, अतएव राजवार्त्तिकगत 'षड्द्रव्याणि' वाला उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य का सूचक नहीं हो सकता। सम्पादक जी की इस मान्यता का शास्त्रोल्लेख पूर्वक खण्डन पूर्व लेख में किया जा चुका है। इस लेख में सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है कि भाष्यकार छह द्रव्यों को मानते हैं, फिर भी न मालूम भाष्य में 'षड्द्रव्याणि' ऐसा पद प्रदर्शित करने का ही इन वयोवृद्ध पंडितों का क्या आग्रह है? यदि यह सिद्ध हो जाता है कि भाष्यकार छह द्रव्यों को स्वीकार करते हैं, तो इतना बस है। षड्द्रव्य का उल्लेख भाष्य में कई जगह (बहुकृत्व) आता ही है भले ही वह 'षड्द्रव्यावरोधात्' रूप में हो अथवा 'काय ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' रूप में हो, अथवा अन्य किसी रूप में। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि राजवार्त्तिक में यदि 'वृद्धाख्ये बहुकृत्व षड्द्रव्याणि इत्युक्त' न होकर 'वृद्धाख्ये बहुकृत्व उक्त 'षड्द्रव्याणि'' इत्यादि वाक्य होता तो कदाचित् तत्त्वार्थभाष्य में 'षड्द्रव्याणि' यह पद प्रदर्शित करने का आग्रह ठीक था। लेकिन यहाँ तो अकलंक सामान्यरूप से कह रहे हैं कि 'भाष्य में जो बहुत बार छह द्रव्यों का उल्लेख है, उसके विषय में क्या कहा?' यहाँ अकलंक ग्रन्थ का कोई खास उद्धरण नहीं दे रहे हैं, जैसा उन्होंने "स्यान्मत वृत्तौ उक्त "अवस्थितानि धर्मादीनि" आदि तथा "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने" आदि वाक्यों में 'उक्त' रूप से दिया है।

(ग) "वृद्धाख्ये बहुकृत्व" आदि उल्लेख राजवार्त्तिक का भी नहीं हो सकता। यदि यहाँ 'भाष्य' पद से अकलंक को स्वकृत भाष्य इष्ट होता तो उन्हें स्पष्ट 'अस्मिन् भाष्ये' अथवा 'पूर्वत्र' आदि लिखना चाहिये था। "ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदम्" (पृ. २०४) आदि राजवार्त्तिक गत वाक्य में भी उन्होंने 'पूर्वत्र' लिखकर पूर्वगत व्याख्यान का सूचन किया है। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि 'पूर्वत्र' शब्द से सन्देह हो सकता था कि वार्त्तिक में या भाष्य में। यदि यह सन्देह होना ठीक है, तो फिर वह सन्देह यहाँ क्यों नहीं हुआ? किसी वृत्तिकार या भाष्यकार ने 'अस्माभिः' अथवा 'अस्मिन्' आदि पदों के बिना केवल 'वृत्तौ' अथवा 'भाष्ये' लिखकर स्वग्रन्थ का सूचन किया हो, ऐसा इतर साहित्य में भी देखने में नहीं आता। शङ्कराचार्य आदि विद्वानों ने 'अस्माभिः प्रोक्त' अथवा 'पूर्वत्र प्रोक्त' आदि शब्दों द्वारा ही स्वग्रन्थकृत उल्लेख का सूचन किया है। तथा राजवार्त्तिकभाष्य में तो षड्द्रव्यों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, राजवार्त्तिककार उसका कथन पहले कई बार कर ही चुके हैं, फिर उसके सिद्ध करने की यहाँ क्या आवश्यकता थी? जब कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्य में 'कालश्चेत्यके' सूत्र होने के कारण कुछ लोगों की दृष्टि में काल की मान्यता में सन्देहास्पद थी। अतएव भाष्य का वाक्य स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य नहीं हो सकता।

(५) तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक में शब्दादिगत साम्य

आक्षेप—शब्दसाम्य, सूत्रसाम्य और विषयसाम्य तो बहुत शास्त्रों के बहुत शास्त्रों में मिल सकते हैं, तथा मिलते हैं, अतः इस कथन की कोई कीमत नहीं।

उत्तर—बड़ा आश्चर्य है कि तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिक भाष्य में शब्दादि की समानता स्वीकार कर लेने पर भी उसकी कोई कीमत नहीं बताई जाती। क्या सम्पादक-अनेकान्त भी इससे सहमत हैं? हमारा तो कहना है कि थोड़ी देर के लिये यदि राजवार्तिक में वृत्ति, भाष्य आदि का उल्लेख न भी हो, तो दोनों ग्रन्थों में जो शब्द के शब्द, वाक्य के वाक्य यहाँ तक कि पृष्ठ के पृष्ठ समानरूप से पाये जाते हैं, वे यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि एक पर दूसरे का प्रभाव अवश्य है। राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि या उसके कर्त्ता का नामोल्लेख न होने पर भी माना जाता है कि सर्वार्थसिद्धि सामने रखकर राजवार्तिक लिखा गया है, फिर तत्त्वार्थभाष्य का स्पष्ट नामोल्लेख होने पर भी राजवार्तिककार ने भाष्य का उपयोग किया है, यह मानने में क्या आपत्ति है? यदि फिर भी अकलंक से पूर्व तत्त्वार्थभाष्य का अस्तित्व नहीं माना जाय तो यह साफ साफ कह देना चाहिये कि भाष्यकार ने राजवार्तिक को अपना लिया है। यदि कहा जाय कि किसी अनुपलब्ध ग्रन्थ का दोनों ग्रन्थकारों ने उपयोग किया है, तो उस ग्रन्थ का अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध करना चाहिए। राजवार्तिकगत अन्तिम कारिकाओं को बरसों से प्रक्षिप्त कहकर उनका लोप किया जा रहा है, लेकिन उनके प्रक्षिप्त होने में अबतक किसी ने कोई प्रमाण दिया हो, यह देखने में नहीं आया।

हमारी समझ में नहीं आता कि यदि अकलंक ने राजवार्तिक जैसा महाभाष्य लिखते हुए लघुतत्त्वार्थभाष्य का उपयोग कर लिया, तो क्या हानि हो गई? वार्तिक ग्रन्थों में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थ की विचारणा हुआ करती है। वार्तिक के इस लक्षण के अनुसार, अकलंक ने तत्त्वार्थभाष्य में से अपने अनुकूल बातों को ग्रहण कर लिया और प्रतिकूल को छोड़ दिया। पहले जैन आचार्य आजकल की तरह संकुचित वृत्ति के न होते थे। उन्हें जहाँ जो बात अच्छी लगती थी, वहाँ से उसे ले लेते थे। स्वयं अकलंक ने भागवद्गीता तक के श्लोक को राजवार्तिक में ले लिया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर सुमति नामक दिगम्बराचार्य-द्वारा वृत्ति लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। यशोविजयजीकृत अष्टसहस्री-टिप्पण तो छप भी गई है। इसी तरह समन्तभद्र आदि विद्वानों का हरिभद्र आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने बहुसम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। स्वयं धवला में सन्मतितर्क के उल्लेखपूर्वक उसकी गाथायें उद्धृत की गई हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वार्थभाष्य के स्वोपज्ञ माने जाने की परंपरा अकलंक से पुरानी है। अकलंक के समकालीन सिद्धसेन, हरिभद्र

आदि श्वेताम्बर विद्वानों ने उसे स्वोपज्ञ मानकर उस पर टीकाएँ लिखी हैं। अतः मानना होगा कि अकलङ्क के सामने श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्य अवश्य मौजूद था।

(२)

पं० जुगलकिशोरजी ने प्रस्तुत चर्चा पर विद्वानों की सम्मति छापने का श्रीगणेश किया है। अतएव, यदि मैं भी यहाँ कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ प्रकाशित कर दूँ तो अप्रासंगिक न होगा। जिन विद्वानों ने कृपा करके अपनी अमूल्य सम्मतियाँ भेजी हैं, उनका मैं अनुगृहीत हूँ।

१—पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई

मैं मानता हूँ कि अकलङ्कदेव के सामने तत्त्वार्थभाष्य अवश्य रहा होगा और उसके रहने में जो लोग साम्प्रदायिक हैं, उन्हें भी क्या एतराज होना चाहिए, मैं नहीं समझ पाता। एतराज का मौका तो तब आयगा जब उस भाष्य को कोई दिगम्बर विद्वान स्वोपज्ञ सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा। आपने जो प्रमाण दिये हैं, वे इस बात को सिद्ध करने के लिये काफी हैं कि 'अर्हत्प्रवचन' कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

२—पं० महेन्द्रकुमार जी शास्त्री, बनारस—

मेरा भी विश्वास है कि यह भाष्य अकलङ्कदेव के सामने अवश्य था। मैं न्यायकुमुदचन्द्र, द्वितीय भाग की प्रस्तावना में इन शब्दों को लिख रहा हूँ। इसके स्वकर्तृत्व की बात दिगम्बर परम्परा में पूज्यपाद से ही विच्छिन्न है। इस विषय में मेरा खास अन्वेषण कार्य नहीं हुआ है। पर इतना सुनिश्चित है कि यह भाष्य अकलङ्कदेव से तो पुराना है। स्वकर्तृत्व की श्वे० परम्परा भी बहुत पुरानी है। अतः उसपर सहसा बिना किसी पुष्ट प्रमाण के अविश्वास नहीं किया जा सकता। आपने अपने लेख में जो प्रकृत विषय के सिवा अन्य बातों की उपेक्षा की है, वह प्रशस्य है।

३—पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, बनारस—

पं० जुगलकिशोरजी का लेख 'नेगेटिव' है पोजिटिव नहीं। भाष्य की स्वोपज्ञता में मुझे भी विश्वास नहीं है। किन्तु अकलङ्क के सामने वह भाष्य था, ऐसा लगता जरूर है।

४—पं० दरबारीलाल जी, सत्यभक्त, वर्धा—

मैं भाष्य को उमास्वातिकृत होने में कोई बाधा नहीं देखता। यह भी मेरा मत है कि अकलङ्कदेव के सामने वह भाष्य था। आपका पक्ष मुझे ठीक मालूम होता है।

५—प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये एम. ए., भारतीय विद्याभवन, बम्बई—

I went through your article with quite a good amount of interest The gen al impression which it has left on my mind is one in your favour You have stated the counter case fully and fairly

and along with stating it you have advanced a host of arguments which sufficiently and surely succeed in bringing your conviction home Your article has much strengthened the position of Pandit Sukhlal ji, who has, in his Tattvarth Sustra 'Parichaya, P. 23), uncontroversially established Vachake Umaswati's authorship of the Bhashya The identity of the Arhat-Pravachana with the Tattvarthbhashya, so ably fixed by you, is ingenious and interesting In short, I take this opportunity of congratulating you on bringing out this illuminating and informative pamphlet.

अर्थात्—मैंने आपके लेख को बहुत दिलचस्पी के साथ पढ़ा। इस लेख के पढ़ने से मेरे दिल पर यही छाप पड़ी कि आपका पक्ष ठीक है। आपने अपनी प्रतिपक्षी दलीलों का पूर्ण और निष्पक्षरूप से उल्लेख किया है। उन दलीलों को पूर्वपक्ष में रखकर आपने इनके विरुद्ध बहुत-सी युक्तियाँ दी हैं, जिससे अपने कथन का निश्चितरूप से पर्याप्त समर्थन होता है। आपके लेख से पंडित सुखलाल जी ने जो मत अपने तत्त्वार्थसूत्र (परिचय पृ० २३) में अबाधित रूप से स्थिर किया है कि भाष्य के कर्त्ता वाचक उमास्वाति हैं, काफी पुष्ट हो जाता है। तत्त्वार्थभाष्य और अर्हत्प्रवचन का जो अपने अभिन्नत्व सिद्ध किया है, वह एक नई वस्तु है और मनोरंजक है। संक्षेप में, मैं आपको नई बातों पर प्रकाश डालनेवाले इस लेख के लिये बधाई देता हूँ।

६—पं० बेचरदास जी, प्रोफेसर एल० डी० आर्ट्स कालेज, अहमदाबाद—

मैं तो भाष्य को स्वोपज्ञ ही मानता हूँ और आपके लेख के विषय को ठीक युक्तियुक्त समझता हूँ। राजवार्तिक के ऊपर भाष्य का असर होने में कोई आश्चर्य नहीं। शुद्ध इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो श्वेतांबराम्नाय व दिगंबराम्नाय के ग्रन्थों में एक दूसरे का असर है, ऐसा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। अभी जो धवलागम छप रहे हैं, उनमें 'आर्यमंखु' का उल्लेख मिलता है, वह 'आर्यमंखु' श्वेताम्बराम्नाय प्रसिद्ध कल्पसूत्र की स्थविरावलि में, जिसका नाम 'आर्यमंगु' लिखा है, वही हैं। साहित्य की दृष्टि से दोनों परंपरा की परस्पर घनिष्ठ मित्रता थी। परन्तु पीछे से विच्छेद की कल्पना करके विघ्न किया है।

७—मुनि श्री पुण्यविजय जी, पाटण—

आपके परिश्रम के लिये धन्यवाद। इस लेख के विषय में पं० सुखलाल जी की सम्मति आई होगी। मैं उनकी सम्मति से सम्मत हूँ।

८—पं० सुखलालजी, प्रोफेसर जैनचेयर, बनारस हिन्दू-युनिवर्सिटी, बनारस—

लेख की शैली सौम्य है और वस्तु ठोस है।

विविध

(१)

भुजबलिचरिते

विज्ञ पाठकों को जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ,, किरण २ में, सांगत्य छन्द में रचित 'गोम्मटेश्वरचरिते' नामक एक कन्नड ग्रंथ का परिचय कराया जा चुका है, जिसमें गोम्मटेश्वर अर्थात् बाहुबली की जीवनी और शक १३०३ ई० सन् १४३२ में राजा वीरपांड्य के द्वारा कारकल (South Kanara) में स्थापित गोम्मटेश्वर या बाहुबली का विशाल काय मनोज्ञ प्रतिमा का इतिवृत्त अङ्कित किया गया है। उक्त गोम्मटेश्वरचरिते के रचयिता दानणि इम्मडि भरवराय के आश्रित, ललितकीर्ति के शिष्य और तौलवदेश (वर्तमान South Kanara) निवासी कवि चन्द्रम हैं। भास्कर में प्रकाशित उस लेख में मैंने यह लिख दिया था कि उक्त ग्रन्थ में वीरपाण्ड्य के द्वारा मूर्ति स्थापित होने का समय शक १३५३, ई० सन् १४३२ और कवि चन्द्रम के द्वारा ग्रन्थ रचे जाने का समय शक १५६८, ई० सन् १६४६, स्पष्ट अङ्कित है। जब इन दोनों समयों में इस प्रकार २१४ वर्षों का अन्तर पड़ता है, तब वीरपाण्ड्य के द्वारा स्थापित बाहुबली की विंब प्रतिष्ठा का वर्णन कवि के द्वारा केवल श्रुति गोचर किया हुआ सिद्ध होता है। हाँ, अपने आश्रयदाता वीरपाण्ड्य के ही वंशज भरवराय के द्वारा पीछे शक १५६८ ई० सन् १६४६ में सम्पन्न की गई उसी मूर्ति की द्वितीय प्रतिष्ठा का वर्णन कवि का देखी हुई घटना है। मालूम होता है कि बाहुबली की प्रथम एवं द्वितीय दोनों प्रतिष्ठाओं की घटनाओं को सुरक्षित रखने के लिए गुरु ललितकीर्ति जी की प्रेरणा से कवि चन्द्रम ने इस गोम्मटेश्वरचरिते का रचना की है।

अभी हाल में मुझे 'भुजबलिचरिते' नामक सांगत्य छन्द में ही रचित एक और कन्नड ग्रन्थ मिला है। इसमें वेणूर में चतुर्थ वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा शक १५२५, ई० सन् १६०४ में स्थापित बाहुबली* या गोम्मटेश्वर की विशाल-काय मनोज्ञ मूर्ति की बिंब प्रतिष्ठा का वर्णन अङ्कित है। इसके रचयिता प्राग्वेणुपुर† (मूडबिद्री) निवासी पद्मसेट्टि एवं पद्मावती का पुत्र कवि पद्मनाभ हैं। पद्मनाभ ने अपनी इस रचना में तो अपने को चारुकीर्ति का शिष्य एवं तिम्मण्णाजिल का आस्थान कवि मात्र घोषित किया है। हाँ, इनकी एक रचना और उपलब्ध है, वह है 'रामचन्द्रचरित्र' का उत्तर भाग।‡ उसमें उन्होंने पण्डितार्य अर्थात्

* भुजबली बाहुबली का ही नामान्तर है।

† पडुबिद्री के नाम से पश्चिम वेणुपुर एक दूसरा है।

‡ इसका पूर्व भाग चन्द्रशेखर अथवा शंकर कवि के द्वारा रचा गया था। बीच में ही कवि के देहावसान होने से यह ग्रंथ अधूरा रह गया था।

चारुकीर्ति+ को अपना व्रतगुरु, प्रभाचन्द्र को शिक्षा-गुरु एवं मूलिके के शासक चेन्नराजेन्द्र को रक्षक बताया है। रामचन्द्र-चरित्र का उत्तर भाग (१७वें अध्याय से ३७वें अध्याय तक अर्थात् ३०५७ पद्य) शक १६७४, ई० सन् १७५० में समाप्त हुआ था। इधर कवि पद्मनाभ ने अपने भुजबलिचरिते में जिन तिम्मण्णाजिल को अपना आश्रयदाता बताया है वह तिम्मण अजिलवंशी, द्वितीय पदुमला देवी के उत्तराधिकारी, वेणूर में शासन करनेवाले पञ्चम तिम्मण्णाजिल ही होना चाहिये। इनका समय ई० सन् १७२१-१७६५ है। मालूम होता है कि कवि पद्मनाभ का मूलिके और वेणूर दोनों स्थानों के राजदरबारों से समान सम्बन्ध रहा। अन्यथा वह भुजबलिचरिते में वेणूर के तिम्मण्णाजिल को अपना आश्रयदाता और रामचन्द्र-चरित्र में मूलिके के चेन्नराजेन्द्र को रक्षक कैसे लिखते। क्या स्थानीय (मूडबिद्री, चौटराज-वंश से कवि पद्मनाभ का कोई सम्बन्ध नहीं रहा ?

पद्मनाभ के भुजबलिचरिते में ४ संधियाँ (अध्याय) एवं ५५१ पद्य हैं। यह पूर्वोक्त कवि चन्द्रम के गोम्मटेश्वरचरिते का ही अनुकरण है। जिस प्रकार इम्मडि भैरवराय ने अपने वंशज वीरपाण्ड्य के द्वारा कारकल में स्थापित सुप्रसिद्ध विशाल-काय बाहुबलिमूर्ति की धूमधाम से मस्तकाभिषेक-पूर्वक प्रतिष्ठा कराकर कवि चन्द्रम के द्वारा गोम्मटेश्वरचरिते की रचना कराई थी, उसी प्रकार पञ्चम तिम्मण्णाजिल ने अपने वंशज चतुर्थ वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा वेणूर में स्थापित सुविख्यात विशाल-काय बाहुबलि-मूर्ति की धूमधाम से मस्तकाभिषेकपूर्वक प्रतिष्ठा कराकर कवि पद्मनाभ के द्वारा भुजबलिचरिते की रचना कराई है। भुजबलिचरिते में भी गोम्मटेश्वरचरिते के समान मूल-बिंब प्रतिष्ठा एवं द्वितीय साधारण प्रतिष्ठा दोनों का विशद वर्णन अङ्कित है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह है कि गोम्मटेश्वरचरिते की अपेक्षा भुजबलिचरिते का निर्माण बिंब-स्थापना-काल से कुछ कम अन्तर में हुआ है।

कारकल में जिस दाताग्रणी इम्मडि भैरवराय ने कवि चन्द्रम के द्वारा गोम्मटेश्वरचरिते की रचना कराई है, उन्होंने ही वेणूर में वीरतिम्मण्णाजिल के द्वारा स्थापित होनेवाली बाहुबलि-मूर्ति की स्थापना को रोक दिया था। बल्कि इसी विषय को लेकर उक्त दोनों शासकों में भारी युद्ध हुआ था और उस युद्ध में तिम्मण्णाजिल ही विजयी हुए थे।× भुजबलिचरिते में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वेणूर में बाहुबलि-मूर्ति-स्थापित होने से अपनी राजधानी कारकल का महत्व घट जायगा, सिर्फ इसी ख्याल से इम्मडि भैरवराय ने वेणूर की

+ यह चारुकीर्ति मूडबिद्री-मठ के तत्कालीन मठाधीश हैं।

× देखें—'दक्षिणकन्नडजिल्लेय प्राचीन इतिहास' पृ० ३४०।

बिंब प्रतिष्ठा का विरोध किया था। यों तो इम्मडि भैरवराय भी धर्मात्मा व्यक्ति थे। खैर, अंत में धर्म की ही विजय हुई और बाहुबली की मूर्ति कारकल के समान वेणूर में भी समारोह के साथ स्थापित हुई।

अब विज्ञ पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकर्षित करता हूं। भुजबलिचरिते में कवि पद्मनाभ ने तिम्मण्णाजिल को चामुण्डराय का वंशज बताया है। पर श्रीयुत गोविन्द पै के मत से यह चामुण्डराय श्रवणबेल्गोल में श्रीगोम्मटेश्वर की लोकविख्यात विशालकाय मूर्ति के संस्थापक, वीरमार्त्तण्डादि अनेकोपाधिविशिष्ट चामुण्डराय या चावुण्डराय नहीं है।×

इस भुजबलिचरित में एक स्थान पर लिखा है कि तिम्मण्णाजिल ने बाहुबलि मूर्ति का मस्तकाभिषेक कराने की तीव्र इच्छा से हस्तिनापुर में अपने यहाँ आये हुए विजयकीर्ति जी को आज्ञा प्राप्ति के लिये केलदिय राजाओं के पास भेजा।¹ इससे मालूम होता है कि उस समय पश्चात् तिम्मण्णाजिल केलदिय राजाओं की ही अधीनता में वेणूर में शासन कर रहा था। इस भुजबलिचरिते से यह भी ज्ञात होता है कि वादीभसिंह ने चन्द्रप्रभपुराण की भी रचना की थी।

इसमें एक और नई बात दृष्टिगोचर होती है। वह यह है—वेणूर की गोम्मटेश्वर मूर्ति के दक्षिण पार्श्व में स्थित संस्कृत शिलालेख में उत्कीर्ण है कि चामुण्डवंशज तिम्मराज ने श्रवणबेल्गोल के मठाधीश गुरु चारुकीर्ति के आज्ञानुसार शक १५२५ (ई० सन १६०४) में इसे स्थापित किया।‡ किन्तु इस भुजबलिचरित में प्रतिपादित है कि शक

× देखें—Antiquary Vol II No 2—१ प्रकाशित लेख।

‡ सोमवंशसमुद्भूतः श्रीचामुण्डान्वयोद्भवः।
आभाति तिम्मराजाख्यो ... शासनं जिनशासनम् ॥१॥
शाकवर्षेष्वतीतेषु विषयाब्धिशरेन्दुषु।
वर्तमाने शोभकृति वत्सरे फाल्गुनाह्वये ॥२॥
मासेऽथ शुक्लपक्षदशम्यां गुरुपुष्यके।
शुभलग्ने मिथुने देशिगणाम्बरदिनेशतुः ॥३॥
बेल्गुलाख्यपुरीपट्टश्रीरत्नभूषितसिंहासन।
चारुकीर्तिमुनेर्दिव्यवाक्यादेनूरपत्तने ॥४॥
श्रीरायकुमारस्याय आज्ञया तम्महादृशी।
पाण्ड्यक्ष्मापालसहोदरेण सुपुत्र पाण्ड्यभूपते ॥५॥
चामुण्डवंशतिलकः ... भूपकः।
स्थापयामास प्रतिष्ठाप्य भुजबल्याख्य जिनम् ॥६॥

१५२४* में यहाँ मूर्ति स्थापित हुई। शिलालेख एवं चरिते दोनों में संवत्सर एक ही शोभकृत अङ्कित है। मास के स्थान में शिलालेख में फाल्गुन और चरिते में ज्येष्ठ उपलब्ध है। इसी प्रकार पक्ष आदि में भी दोनों में अन्तर पड़ता है। पता नहीं लगता है कि इन दोनों में ऐसा अन्तर क्यों पड़ा?

इस चरिते में दो चार संस्कृत पद्य भी मिलते हैं। इनसे मालूम होता है कि कवि पद्मनाभ संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। उदाहरणार्थ यहाँ पर स्रग्धराछन्दवद्ध एक पद्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

श्रीमान्नाभेयपुत्रं हरिततनुरुचिं पूर्वकामं सुनन्दा-
रामागर्भाब्धिचन्द्रं विमलगुणनिधिं किंपुरावासिनश्च।
श्रीमत्तिम्मावनीशप्रणतपदयुगं सर्वदुःखापहारं
भीमाघध्वान्तभानुं परमसुखमयं गोम्मटेशं भजेऽहं॥

अस्तु, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उपर्युक्त कवि चन्द्रम का गोम्मटेश्वर-चरिते एवं कवि पद्मनाभ का भुजबलिचरिते ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं। देखें, इस साहित्यिक-यज्ञ का यजमान कौन बनता है।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

काशिकाविवरणपञ्जिका का कर्त्ता कौन है?

श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने 'जैनेन्द्रव्याकरण और आचार्य देवनन्दी' नामक अपने लेख में प्रकट किया है कि 'इस न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के नाम के साथ 'बोधिसत्वदेशीयाचार्य' नाम की बौद्ध-पदवी लगी हुई है, इससे यह ग्रन्थ बौद्धभिक्षु का बनाया हुआ है। आश्चर्य नहीं जो वृत्तविलास कवि को पूज्यपाद के 'जिनेन्द्रबुद्धि' इस नाम-साम्य के कारण भ्रम हुआ हो और इसी से उसने उसे पूज्यपाद का समझ कर उल्लेख कर दिया हो।'

इसके उत्तर में आचार्य पूज्यपाद विरचित 'समाधितंत्र' की प्रस्तावना में श्रीयुत पं० जुगल किशोर जी मुख्तार यों लिखते हैं—

'परन्तु ऊपरके शिलालेखमें न्यासका स्पष्ट नाम 'शब्दावतार' दिया है और उसे काशिकावृत्तिका नहीं बल्कि पाणिनीयका न्यास बतलाया है. ऐसी हालतमें जब तक यह

* शरधिद्विबाणेन्दुसंख्येय शककालदुरुशुभकृतुसंवत्सरदोलु॥
वरजेष्ठबहुलदशमिकशुक्रवारबन्धुररेवतितारेयलि॥
स्थापिसिदनु भुजबलिस्वामियनु कीर्तिव्यापिसे दशदेशेगळलि॥

सिद्ध न हो कि काशिकापर लिखे हुए न्यासका नाम 'शब्दावतार' है और उसके कर्ताके नामके साथ यदि उक्त बौद्धविशेषण लगा हुआ है तो वह किसी भी बादकी कृति नहीं है तब तक धर्मपरीक्षाके कर्ता वृत्तविलासको भ्रमका होना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूज्यपाद स्वामी गगराजा दुर्विनीतके शिक्षागुरु (Preceptor) थे, जिसका राज्यकाल ई० सन ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है और उन्हें हेब्बूर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्रपत्रादिकों) में 'शब्दावतार के कर्तारूपमे दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है।'

हाल ही में मुझे मूडबिद्री में 'महाधवल' का पता लगाते समय गुरुबसदि में इस पञ्जिका की ताडपत्राङ्कित एक पुरानी प्रति देखने को मिली है। इस प्रति में यह तृतीय अध्याय के प्रथमपाद का प्रारम्भिक अंश तक ही है। इसमे प्रत्येक पाद के अन्त में 'इत्याचार्यजिनेन्द्र बुद्धिविरचितायां काशिकाविवरणपञ्जिकायां ' मात्र है। कहीं भी 'बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य' नाम की बौद्ध पदवी इसमें नहीं लगी है। इससे मेरे मन में यह विचार उठ खड़ा होता है कि बहुत कुछ सभव है इसके कर्ता आचार्य पूज्यपाद ही हों। इसमे निम्नलिखित तीन कारण हैं—

(१) अनेक प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में पूज्यपाद का पाणिनीय न्यास के कर्ता के रूप में उल्लेख किया गया है।

(२) कई प्रसिद्ध प्राचीन दि० जैन भाण्डारों में इस पञ्जिका की प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जब कि प्राय अन्य किसी बौद्ध ग्रन्थ की प्रति इनमें नहीं पायी जाती है।

(३) इस पञ्जिका के मंगल श्लोकों में एकत्र 'तरन्ति काशिकाम्भोधिं मे जिनेन्द्रो जयत्ययम्' यह अङ्कित है।*

मुझे बौद्ध-साहित्य में अनेकत्र गौतमबुद्ध के पर्याय नामों में 'जिन' शब्द भले ही मिला है अवश्य परन्तु 'जिनेन्द्र' शब्द कहीं भी नहीं मिला है। इसीलिये मैंने इस सबंध में बौद्ध साहित्य के अधिकारी विद्वान श्रीयुत आनन्द कौसल्यायन जी के पास सारनाथ को लिखा था। उत्तर में आप ता० १ २ ४१ के अपने पत्र में यों लिखते हैं—'ऐसे स्थल तो मेरे ध्यान में नहीं आ रहे हैं जहाँ बौद्ध साहित्य में कहीं जिनेन्द्र शब्द का प्रयोग आया हो। हाँ, जिन शब्द का प्रयोग अवश्य है।'

इसलिये अन्वेषक विद्वानों से मेरा सप्रेम अनुरोध है कि वे पञ्जिका के कर्ता के बारे में विशेष अनुसन्धान करने का अवश्य कष्ट करें। —के० भुजबली शास्त्री

* नर्वान्त ते सदा सन्त सर्वथा यैरुपार्जितम्।
गुणानां सुमहद्वृन्दं दोषाणाञ्च विमार्जनम् ॥
व्याख्यातं सारमादाय कर्तव्या काशिका यथा
वृत्तिस्तस्या यथाशक्ति क्रियते पञ्जिका तथा ॥
यत्प्रसादात्तमिमामाणाय सूरिभि सुखम्।
तरन्ति काशिकाम्भोधिं स जिनेन्द्रो जयत्ययम् ॥

(३)

लेखकों से निवेदन

किसी भी हिन्दी पत्र में प्रकाशित किसी हिन्दी लेख को विना विशिष्ट हेतु के 'भास्कर' में उसी रूप में प्रकाशित करना हमें अभीष्ट नहीं है। इसलिये 'भास्कर' के माननीय लेखकों से सादर निवेदन है कि आप का लेख जब तक 'भास्कर' में प्रकाशित नहीं होता है, तब तक आप उसे अन्य किसी हिन्दी पत्र में न भेजें।

'भास्कर' एक पुरातत्व-संबंधी उच्चकोटि का पत्र है। अतः इसमें यथासंभव अप्रकाशित साहित्य को ही स्थान दिया जाता है।

आशा है, 'भास्कर' के इस आदर्श-सिद्धान्त से आप लोग भी सहमत होंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

समीक्षा

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)—मराठी अनुवाद सहित, सम्पादक एवं प्रकाशक—नेमचन्द बालचन्द गांधी, वकील, धाराशिव, रॉयल पृ० ~४+५२२, मूल्य ५) रुपये, शोलापुर १९३९।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिकृत गोम्मटसार जैन-साहित्य क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्व पूर्ण कृति है। अभी-अभी प्रकाश में आया हुई धवला इत्यादि के विषयों का भी इस पुस्तक में समावेश है। प्रत्येक दृष्टि से ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण है। कर्मकाण्ड में प्रधानतया जैन कर्म सिद्धान्त की विशेषताओं की अत्यन्त मार्मिक ढंग या सूक्ष्मता से विवेचना की गयी है। उस मुमुक्षु के लिये, जो कर्म सिद्धान्त का विशद अध्ययन करना चाहता हो अथवा मोक्ष के मार्ग को अधिक प्रशस्त एवं उन्नत बनाना चाहता हो, यह पुस्तक अनिवार्य है।

गोम्मटसार पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी हैं। कर्मकाण्ड गाथा नं० ९७२ से पता चलता है कि चामुण्डराय ने, जिनके निमित्त गोम्मटसार सङ्कलित किया गया था, इस पुस्तक पर एक देशी या कनड टीका तैयार की थी जिसका नाम वीरमार्तण्डी' है। परन्तु इनकी कोई हस्तलिपि जहाँतक मुझे मालूम है अब तक नहीं मिली है। एक दूसरी कनड टीका केशववर्णि लिखित 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' है जो १३५९ ई० में समाप्त हुई थी। इसके उपरांत अभयचन्द्र की लिखी हुई मन्दप्रबोधिनी' नामक टीका हमारे सामने आती है जो संस्कृत में है। अभी तक केशववर्णी और अभयचन्द्र की परस्पर सम्बन्धित तिथियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया गया है। दूसरी 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका नेमिचन्द्र जी की है जिनका जीवनकाल केशववर्णी के बाद आता है। अनेक विद्वानों का मत है कि यह टीका केशववर्णी की ही है परन्तु उनके इस कथन का मुझे कोई उचित प्रमाण नहीं मिलता। उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के आधार पर पं० टोडरमल लिखित 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' हिन्दी में है। यह टीका पुस्तक 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादों के लिये तथा जे० एल० जैनी एवं उनके अन्य सहकर्मियों द्वारा तैयार किये हुए अंग्रेजी अनुवाद के लिये, मुख्य पथ प्रदर्शक रही है।

यह सर्वविदित है कि जैन समाज भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में अपनी भिन्न भिन्न भाषाओं के साथ फैला हुआ है। एसे अनेक जैनी हैं जिनकी मातृ भाषा मराठी है। प्रस्तुत समालोच्य पुस्तक धाराशिव निवासी श्रीमान नेमचन्द बालचंद गांधी लिखित कर्मकाण्ड का मराठी संस्करण है जिसमें विषय का बड़ी सावधानी से अनुशीलन किया गया है। अपने ग्रन्थ में लेखक महोदय ने यह लिखा है कि किस प्रकार उन्होंने ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के

नेतृत्व मे इस विषय का अध्ययन किया तथा फिर उसको मराठी मे प्रकाशित कराया। विषय के प्रतिपादन मे लेखक-प्रकाशक महोदय की विनय और सरलता विशेष प्रशंसनीय है। भाषा सरल है तथा विषय को सुबोध बनाने के लिये आवश्यक सूचीपत्र (Tables) भी दे दिये गये है। स्वाध्याय की सुविधा के लिये पूर्ण गाथायें अन्त मे दे दी गयी हैं। विषयानुक्रमणिका एवं पारिभाषिक शब्दों की सूची दे देने से पुस्तक की उपादेयता विशेष बढ़ गयी है।

सेठ नेमचंद जी को इस प्रशंसनीय कार्य के लिये अनेकानेक धन्यवाद हैं। मराठी भाषा-भाषी जनता इस स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित शैली में लिखित मराठी-संस्करण के लिये उनकी चिर-आभारी रहेगी।

—ए० एन० उपाध्ये

प्रशस्ति-संग्रह

प के भुजबली शास्त्री

इत्युक्तम्। इद तु सूत्र परमतनिराकरणाचिकीर्षया पृथिव्यादीना सर्वेषां पुद्गलादि जातिविशेषाणा प्रत्येक रूपादिचतुष्टय साधारण स्वरूपमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थ कृतम्। परमते हि स्पर्शरसगन्धवर्णवती पृथिवी। स्पर्शरसवर्णवत्य आप। स्पर्शवर्णवत्तेज। स्पर्शवानेव वायुरिति चत्वारश्चैव्यगुणा आत्यन्तरेण स्थिता पृथिव्यादय इत्युक्तम्। तच्च युक्त्यानुपपन्नमिति स्वपक्षसाधनद्वारेण निराक्रियते। तथा ह्यापो गन्धवत्य। तेजोगन्धरसवत्। वायुर्गन्धरसवर्णवान् स्पर्शवत्त्वात्पृथिवीपर्यायवदिति। एवमुक्त तावद् युक्तिबलात्पृथिव्यादीनां पुद्गलपर्यायत्व पुद्गलाना च स्वशादिसाधारणगुणात्यमिश्रानामसाधारण पर्याययोगिन पुद्गलानाह।

× × × × × ×

अंतिम भाग—

इति य सुखबोधाख्यां वृत्ति तत्त्वार्थसङ्गिनीम्।
पट्सहस्रां महस्रोनां विद्यात्समोत्तमागवित् ॥१॥
यदत्र स्खलितं यात विद्वासो देशशास्त्रयो ।
तद्विचार्यैव धीमन्तश्शोधयन्तु विमत्सरा ॥२॥
नो निष्ठीव्येन्न शेते वदति च न पर ह्येहि याहि तु याहि
नो कण्डूयेत गात्र व्रजति न नाशिनोद्घाटयेद्वानत्ते (?)
नावष्टभ्नाति रेणुं निधिरिति यो बद्धपर्यंकयोग ।
कृत्वा सन्यासमन्ते शुभगतिरभवत् सर्वसाधुस्सपूज्य ॥३॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभव सिद्धान्तपारङ्गत ।
शिष्य श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्रभूपान्वित ॥
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित्।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्ति स्फुटम् ॥४॥

शशधरकरनिकरतारनिस्तलतरतलमुक्ताफलहारस्फुरत्तारानिकुरम्बनिम्बनिर्मलतर परमौदारशरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाजल्तितघातिघनमघातसकलविमलकेवलावलोकितसकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचित्रजित्स्वभावभावाभिधानसाधितस्वभावपरमतमहासैद्धान्तजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दि विरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां दशमोऽध्याय समाप्त ।

वृत्तिगत प्रशस्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वृत्तिकार पण्डितवर भास्करनन्दी के गुरु श्रीजिनचन्द्र भट्टारक हैं। परन्तु इस नाम के कई आचार्य और भट्टारक हो

गये हैं; इसलिये निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि भास्करनन्दी के गुरु जिनचन्द्र कौन हैं। श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी का अनुमान है कि सम्भवतः श्रवणबेलगोल के ५५वें शिलालेख में अंकित जिनचन्द्र भास्करनन्दी के गुरु हैं।* किन्तु यह केवल अनुमानमात्र है। इस बात को प्रेमी जी ने २२-१-४१ के अपने हाल के पत्र में भी स्पष्ट कर दिया है।

जिनचन्द्र नाम के एक और आचार्य हो गये हैं, जो 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के कर्त्ता पं० मेधावी के गुरु और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। यह शुभचन्द्राचार्य पद्मनन्दी आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों के रचयिता शुभचन्द्र से पहले हो गये हैं। पं० मेधावी ने 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' ग्रन्थ की दानप्रशस्ति में उनका विशेष परिचय दिया है।† इसी प्रकार एक भास्करनन्दी और हुए हैं, जिनका उल्लेख 'न्यायकुमुदचन्द्र' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। यह नन्दिसंघ के आचार्य देवनन्दी के शिष्य एवं सौख्यनन्दी के प्रशिष्य हैं।‡ इस समय मेरे सामने और कोई सामग्री न होने के कारण तत्त्वार्थवृत्ति के रचयिता भास्करनन्दी के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने में मैं विवश हूँ। अस्तु, इसमें शक नहीं है कि प्रस्तुत तत्त्वार्थवृत्ति की प्रतिपादनशैली सुन्दर और सुगम है। भाषा की दृष्टि से भी यह वृत्ति प्रौढ़ है। वास्तव में इसका सुखबोध नाम अन्वर्थ है। वृत्ति लगभग पाँच हजार श्लोकों में है। इसकी प्रतिपादनशैली प्रायः राजवार्तिक से मिलती-जुलती है। राजवार्तिक से यह ग्रन्थ छोटा है अवश्य, फिर भी उसमें अनुपलब्ध कुछ वाक्य इसमें मिलते हैं।

बड़े हर्ष की बात है, ज्ञात हुआ है कि मैसूर-गवर्नमेन्ट-ओरियन्टल-लायब्रेरी की ओर से यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसके सम्पादक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीमान् पं० शान्तिराज जी शास्त्री, मैसूर हैं। यों तो उक्त लायब्रेरी की ओर से अभी तक भट्टाकलंक का 'कर्णाटकशब्दानुशासन,' कविसार्वभौम पंप का 'आदिपुराण', नयसेन का 'धर्मामृत', जन्न का 'अनंतनाथपुराण' आदि कई महत्वपूर्ण कन्नड जैन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परंतु संस्कृत ग्रन्थों में यह तत्त्वार्थवृत्ति ही सर्वप्रथम ग्रन्थ है। जैनसाहित्य-प्रकाशन के संबंध में मैसूर-सरकार जो उदारता दिखला रही है, उसके लिये जैन-समाज मैसूर-सरकार का अवश्य ऋणी रहेगा। मैं आशा करता हूँ कि उपर्युक्त मान्य शास्त्री जी के सहयोग से अब यह प्रकाशन-कार्य और द्रुत गति से चलेगा। अब मेरे मन में आशा

* देखे—'सिद्धांतसारादिसंग्रह' में 'ग्रंथकर्त्ताओंका परिचय'।

† यह 'प्रशस्ति' भवन में मौजूद है।

‡ देखें—'अनेकांत' वर्ष १, पृ० १३३।

का संचार हो रहा है कि, मैसूर ओरियन्टल लायब्रेरी की उदार एवं गुणग्राहिणी कमेटी तत्त्वार्थसूत्र की अन्य अप्रकाशित टीकायें (प्रभाचन्द्रकृत आदि), शाकटायनन्यास, शाकटायनमहावृत्ति, विद्यानुशासन, एकसंधिसंहिता, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्यायविनिश्चय विवरण, सत्यशासनपरीक्षा, लोकविभाग, सिद्धान्तसारदीपक, द्विसंधानकाव्य की दि० जैन टीका वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ, सटीक प्रायश्चित्तसमुच्चय आदि महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर भी अवश्य ध्यान देगी।

---

(४६)ग्रन्थ नं० $\frac{६३}{क}$

हरिवंशपुराण

कर्त्ता—यशःकीर्ति

विषय—पुराण

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ८॥ इञ्च पत्रसंख्या १२१

प्रारम्भिक भाग—

पयडियजयहम्महो कुणयविहम्महो ।
भवियकमलसरहंसहो पणविविजयहंसहो ॥
गुणगणहरसहो कह पयडमि हरियमहो ॥
जय रिसह रिसहिंयविसयपास ।
जय अजिय अजिय हयकम्मपयास ॥
जय संभव भवतरुवरकुठार ।
जय लोयणंदन परिमेसियकुगार ॥
सुमइ सुमयपयडियपयत्थ ।
जय पउमप्पिहरहि णासियअतित्थ ॥
जय जय सुपास हयकम्मपास ।
जय चन्दप्पह मसितामतास ॥
जय सुविहि सुविहिपयडणपवीण ।
जय सीयल जिनवाणिपवीण ॥

जय सेय सेयकिय विगयसेय।
जय वासुपुज्ज तवजलहिसेय॥
जय विमल विमलगुणगण महंत।
जय संत त्रंत जिणवर अनंत॥
जय धम्म धम्मविम्महरित ताव।
जय संति समियसंसारताव॥
जय कुंथु सुरकियगुहमयाणि।
जय अरि जिणचक्की सयलणाणि॥
जय मल्लि णिहयतिलोकमल्ल।
जय मुणिसुव्वय च्रुरिय तिमल्ल॥
जय णमि जिण विसरहचक्कणेमि।
जय जहियणाय रायमइणेमि॥
जय पास पापरजअयरवाल।
कुल गयणि दिणेसरा सुरणिम्महियमाण॥
जय वीर विहासियणयपमाण।
× × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ५४, पंक्ति ४)—

सर्व्वजस्य पदांभोजे सर्वदा भ्रमरायते।
भातृ पुर्ममं साधु (?) घोटाख्यो नंदतां चिरं॥
स अणहे वासरे उग्गइणो सरे।
पंडु सहाउवविट्ठउ ता पक्के दूणं सविणयभूयं॥
करमउलेप्पुण दिट्ठउ विणवय सो जि भो णिसुणि देव।
मंडलिणार णाहहि विहिय सेव माय दिणयरि
पहु तुमहु राउ पिय सुन्दरि।
देवहि वद्धराउ हं पेसिउ तुम्हहं पासु तेण॥
णिसुणहुं आयउ कज्जो ण जेण।
तुमयहो सुय दोवइ अय विणीय
रुवेण पीइ सीलेण सीय पाणहं वल्लहं जणमणहं इट्ठ
सिणारु करंति णवेण दिट्ठि
जोवणवंति य जाणे विराउ

परिणामि थक्केइ बहु भाउ
गोमितिय घयणो गउ चलेइ
ओप्पहाले हय तासु देइ
अमतिय गारवइ सव्व भाय
तुम्हह आपमिय आमि्हं राय
णिय पावणु लेप्पिणु वह चलहु
पहु अणुमतु मा किपि करहु
पहाहरणहि पुज्जियउ दुउ
दुमयंहे सहाय जो सारभूउ
पुणु पडरियह मरसुह विचरकु
चल्लिय कुतियणो सिय सपरकु
पडय कुमायदि पाइ सपता सम्माणियइ ताइ

× × ×

अंतिम भाग—

तिपदा जसमुणि पत्थय सिसुवि ।
काणविउ हरिवस चरित्त वि ॥
णामहिणहु मायरु चहु तिपयरु।
ताणइउ तिपदाहु कुलु जे तिमाहु हि चरियउ कुलव सहसहियउ
कारावउ इयपारमाणु ॥२२॥

इय हरिवस पुराण कुरुवसाहिहिए विबुहचित्ताणुरंजये ।
सिरि गुणकित्तिसीसमुणिजसकित्तिविरइये ॥
साहु दिपदा णाम किए सोम णाहु जुधिट्ठर भीमज्जुण णिव्वाण गमणा ।
णिकुल महदेव सव्वइ सिद्धिगमणवण्णणेते वह मो सग्गो

समत्तो ॥ सधि ॥

इस हरिवंशपुराण के रचयिता गुणकीर्ति के शिष्य यशःकीर्ति हैं। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में गुणकीर्ति नाम के दो व्यक्तियों का उल्लेख उपलब्ध है अवश्य, परन्तु उन लेखों में इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। इस नाम के और भी कई व्यक्ति हो गये हैं, किन्तु हरिवंश-पुराण के कर्ता इन यशःकीर्ति से उनका सम्बन्ध देखने में नहीं आता। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक गुणकीर्ति ही हरिवंश-

पुराण के प्रणेता यशःकीर्त्ति के गुरु है। इसी प्रकार यशःकीर्त्ति नाम के भी अनेक व्यक्ति हो गये है, जैसे—एक गोपनन्दी के शिष्य * दूसरे धर्मशर्माभ्युदय के टीकाकार ललित-कीर्त्ति के शिष्य। सारांश यह है कि इस हरिवंश-पुराण के रचयिता यशःकीर्ति का या उनके गुरु गुणकीर्त्ति का विशेष परिचय मुझे प्राप्त नहीं हो सका, इसलिये उनके सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जा सका।

---

(५०) ग्रन्थ नं० ६६/झ

नेमिपुराण

कर्त्ता—ब्रह्मचारी नेमिदत्त

विषय—उपदेश

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च चौडाई ६॥ इञ्च पत्रसंख्या १६७

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमन्नेमिजिनं नत्वा लोकालोकप्रकाशकम्।
तत्पुराणमहं वक्ष्ये भव्यानां सौख्यदायकम् ॥१॥
नमद्देवेन्द्रमौलीनां लसत्कान्तिसरोजले।
यस्य पादद्वयं प्राप प्रोल्लसत्कमलश्रियम् ॥२॥
सर्वसौभाग्यसन्दोहः सर्वशक्रसमर्चित।
योऽभवत्सर्वसौख्यानां कारणं भव्यदेहिनाम् ॥३॥
यस्य नामस्मृतिश्चापि करोति परमं सुखम्।
प्रभा वा भास्करस्योच्चैर्विकाशं कमलाकरे ॥४॥
तं नमामि जगत्सारं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम्।
नेमिनाथं महाभक्त्या तत्पुराणप्रसिद्धये ॥५॥
वन्दे श्रीवृषभाधीशं सुराधीशार्चितक्रमम्।
येनाभ्यधायि सद्धर्मो विनेयानां विनाश्रमम् ॥६॥

---

* देखे—'जैनशिलालेखसंग्रह'।

अजितं जितकन्दर्पं तं नमामि जगद्धितम् ।
यो जितो नैव पूतात्मा रागद्वेषादिशत्रुभिः ॥७॥
सम्भवं भवसन्तापसन्दोहक्षयकारकम् ।
वन्देऽभिनन्दनं देवं देवदेवाधिनायकम् ॥८॥
संस्तुवे सुमतिं देवं भव्यानां सुमतिप्रदम् ।
पद्मप्रभं प्रभाधीशं प्रसिद्धमहिमास्पदम् ॥९॥
श्रीसुपार्श्वं जगत्सारं सम्पदां धामसाधनम् ।
चन्द्रप्रभं प्रभासारं सर्वसंक्लेशनाशनम् ॥१०॥
पुष्पदन्तं लसत्कुन्दपुष्पसत्कान्तिसुन्दरम् ।
वन्देऽहं शीतलं देवं शीतलोत्तमवाग्भरम् ॥११॥
श्रेयोजिनं नमाम्युच्चैर्मार्गश्रेयोनिबन्धनम् ।
वासुपूज्यं जगत्पूज्यं प्रबुद्धकमलाननम् ॥१२॥
नमामि विमलाधीशं केवलज्ञानभास्करम् ।
वन्देऽनन्तजिनं भक्त्यानन्तानन्तसुखाकरम् ॥१३॥
धर्मं सद्धर्मतीर्थेशं सुरासुरसमर्चितम् ।
शान्तिनाथं भजाम्येतं साभव्यैकसम्मतम् ॥१४॥
वन्दे कुन्थुजिनाधीशं कुन्थ्वादौ च दयास्पदम् ।
अरं देवं सदा वन्दे मारं सारमापदम् ॥१५॥
मल्लिं मोहारिसन्मल्लं वन्दे निःशल्यधामकम् ।
सुव्रतं तं नमाम्येतं मुनिसुव्रतनायकम् ॥१६॥
श्रीनमिं संस्तुवे देवं नमद्वृन्दसंस्तुतम् ।
नेमिनाथं जगन्नाथं वन्दे सर्वामरार्चितम् ॥१७॥
प्रसिद्धमहिमासारं पार्श्वनाथं जिनेश्वरम् ।
वन्दे श्रीवीरतीर्थेशं वीरसारं सुखाकरम् ॥१८॥
एते तीर्थकराधीशाः सर्वदेवेन्द्रवन्दिताः ।
सन्तु मे शान्तिसंसारशान्तये कालत्रयोद्भवाः ॥१९॥
त्रैलोक्यशिखरारूढाः सिद्धाः संसारपारगाः ।
ते मे नित्यं समाराध्याः सन्तु सत्कार्यसिद्धिदाः ॥२०॥
वन्देऽहं भारतीं जैनीं जगद्भ्रान्तिविनाशिनीम् ।
भासिनीं सर्वतत्त्वानां भानुभामिव निर्मलाम् ॥२१॥

रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां शर्मकारिणाम् ।
पादाम्भोजद्वयं वन्दे संसाराम्बुधितारणम् ॥२२॥
शुद्धश्रीमूलसङ्घाख्ये प्रोत्तुङ्गोदयभूधरे ।
भानुर्भट्टारकः स्वामी जीयान्मे मल्लिभूषणः ॥२३॥
× × × ×

मध्यभाग—(पूर्व पृष्ठ ७१, पंक्ति ११)*

गारुडोपलपत्रौघैः प्रसूनैः पद्मरागजैः ।
बभौ चैत्यद्रुमो नित्यं भव्यानां चित्तरञ्जकः ॥
तत्पुष्पप्रचुरामोदसंसक्तभ्रमरारवैः ।
सन्तोषाच्चैत्यवृक्षोऽसौ चक्रे वा संस्तुतिं प्रभोः ॥
महाघंटानिनादेन घोषयन्निव निर्मलम् ।
मोहारातिजयाज्जात यशो नेमिजिनेशिनः ॥
ध्वजांशुकैरशोकोऽसौ पवनान्दोलितैर्मुदा ।
स्फेटयन् वा बभौ गाढं जनानां पापसञ्चयम् ॥
× × × ×

अन्तिम भाग—

गच्छे श्रीमतिमूलसंघतिलके सारस्वतीये शुभे
विद्यानन्दिप्रपट्टशुभ्रकमलोल्लासप्रदो भास्करः ।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा चारित्रचूडामणिः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्जीयात् सतां भूतले ॥
प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभंगीतरंगै-
र्निर्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरक्रोधनक्रादिदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्द्रप्रवृद्धिः
जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्य श्रुताब्धिः ॥
मिथ्यावादांधकारक्षयकरणरविः श्रीजिनेन्द्रांघ्रिपद्म-
द्वन्द्वे निर्द्वन्द्वभक्तिर्जिनगदितमहाज्ञानविज्ञानसिन्धुः ।
चारित्रोत्कृष्टभारो भवभयहरणो भव्यलोकैकबन्धुः
जीयादाचार्यवर्यो विशदगुणनिधिः सिंहनन्दी मुनीन्द्रः ॥

* मध्य भाग और अन्तिम भाग भवन की १११/ख नं० वाली प्रति से ली गई है, क्योंकि प्रस्तुत प्रति बहुत अशुद्ध है ।

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन पुरातत्त्व-सम्बन्धी पाण्मासिक पत्र

भाग ७—वि० स० १९९७, वीर० स० २४६७

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम ए, एल-एल बी
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्य, एम ए, डी लिट्
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम आर ए एस
प० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

जैन सिद्धान्त भवन, आरा द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४०

विषय-सूची

THE JAINA ANTIQUARY

VOL VII JUNE, 1941 No 1

Edited by

Prof Hiralal Jain M A LL B
Prof A. N Upadhye, M A, D Litt
Babu Kamta Prasad Jain M R A S
Pt K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH, BIHAR INDIA

Annual Subscription
Inland Rs 3 Foreign 4 s 8 p Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.

Om

THE
JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol VII No 1 | ARRAH (INDIA) | June 1941

JAINA LITERATURE IN TAMIL

By Prof A Chakravarti, M A I E S

Continued from Vol VI No II page 42

The 4th chapter Mokkalavādacarukkam is devoted to Neelakēśi s challenge to this Buddhistic teacher Mokkala Mokkala in his turn is defeated and made to acknowledge the rival faith This is one of the biggest chapters in the book because of the important Buddhistic doctrines which are discussed in detail in this chapter Hence Mokkala himself sends Neelakēśi to the very founder of Buddhism Hence the fifth chapter Buddhavādacarukkam represents the meeting of Neelakēśi and Buddha for the purpose of discussion Buddha himself is made to realise that his doctrine of Ahimsā is not observed in spirit by his followers He is made to realise that mere lip service to Ahimsā is not a satisfactory doctrine of religion where finally he himself is made to acknowledge the unsatisfactory nature of his religion which must be recast to keep the spirit of Ahimsā Thus next to the introductory chapter 4 chapters are devoted to this discussion of Buddhism Then the other Darsanas are introduced in succession

The 6th chapter is devoted to Ājīvaka religion The chapter is called Ājīvakavādacarukkam The founder of Ājīvaka religion was a contemporary of Mahāvīra and Gautama Buddha In outward

appearance Ājivakas resembled Jaina Nirgranthas. But in the matter of religion they differed very much from both the Jainas and the Buddhists Though the contemporary Buddhistic writers made no mistake about the identity of Ājivakas, later Indian writers very often made the mistake of confounding them with the Digambara sect of Jainas. In this chapter on Ājivakas the author of Neelakēśi distinctly warns the reader against any such confusion and emphasises the fundamental doctrinal differences between the two sects.

The 7th chapter is devoted to an examination of the Sānkhya schools. Hence it is called Sānkhyavādacarukkam.

The 8th chapter is devoted to the examination of Vaiśesika Darśana. The author carefully brings out the points of resemblance between the Jaina and non-Jaina Darśanas in philosophical matters always keeping before his mind's eye his own fundamental concept of Ahiṁsā.

The 9th chapter is devoted to the examination of Vedic ritualism, hence called Vedavādacarukkam In this section there is not only a criticism of Vedic ritualism involving animal sacrifice but also a critical examination of Varnāśrama Dharma based upon Vedic ritualism. The author tries to argue that the social differences based upon birth, have no significance in the spiritual field, and hence are altogether without any importance to religion From the point of view of religion the only difference to be noted among the human beings is the difference based upon character, culture and spiritual discipline.

The last or the 10th chapter is devoted to the examination of the materialistic school usually called Bhūtavāda. Hence the chapter is called Bhūtavādacarukkam Here the discussion is mainly devoted to the establishing the reality of a spiritual principle beyond materialistic conglomoration of the world. The author tries to emphasise that consciousness or Cetanā is an independent spiritual principle and not a mere secondary by-product of the combination of material things, an independent spiritual principle which is recognised as an entity surviving the disintegration

of the material element with which it is associated in the life of the individual Thus the main theme of this chapter is the survival of human personality after death This Neelakēśi demonstrates to the leader of the materialism who readily accepts his mistake and acknowledges that there are more things not dreamt of in his philosophy Thus ends the work after vindicating first the reality of the spiritual principle the human personality and secondly the supremacy of the religious doctrine based upon Ahiṁsā Thus Neelakēśi completes her life task which she is intended to be a thanks offering to her Guru from whom she learnt the fundamental principles of religion and philosophy which she adopted as her own, though she as a Goddess had been revelling in animal sacrifice Thus we see that Neelakēśi is mainly a controversial work intended to vindicate the reality of the soul against materialism the nobility of Ahiṁsa against Vedic ritualism and the dietetic purity of vegetarianism against the Buddhists who preached Ahimsa and practised Himsa.

We know absolutely nothing about the author of the text though we know that the commentary is written by Vāmana Muni Since there are references to Kuraḷ and Nāladiyār in this work it must be later than the age of Kuraḷ Since it is intended as an answer to Kundalakēśi it must certainly be later than Kuṇḍalakēśi

Since we know nothing about Kundalakēśi itself we cannot build much on this information All that we can say is that it is one of the very early classics in Tamil literature It contains 894 stanzas on the whole. This text is certainly very useful to students of Tamil leterature in exhibiting several rare grammatical and idiomatic usages and archaic terms in which the work abounds

Two other minor Kāvyas which are still lying in obscurity in palm leaf manuscripts are (4) Udayana Kāvya and (5) Nāgakumāra Kāvya The former as its name suggests relates to the life of Udayana, the works of Vatsa prince of Kauśāmbi Since they are not published we cannot say much about them

There is another Tamil classic dealing with story of Udayana Probably this is not one of the minor Kāvyas Judging by the

volume of matter and the metre employed in this work it is probably an independent work not included in any of the traditional lists. It is made available to the Tamil reader by that indefatigable worker in the cause of Tamil, Dr. Swaminatha Ayyar, whom we have already referred to This work Perunkathai probably was named after Brhat Kathā of Gunādhya written in what is known as Piśāca-bhāṣā, a Prākrit dialect The author is known as Konguvēl, a prince of Koṅgu Dēśa. He lived in Vijayamānagar, a place in Coimbatore District where there were a number of Jainas in former days This work is quoted by several famous commentators in Tamil, to illustrate the grammatical and idiomatical usages in Tamil literature. The book now published unfortunately is incomplete The editor with all his attempts was not able to obtain the missing portions in the beginning as well as at the end of the work. Instead of waiting indefinitely, it is good that the work is published though incomplete From Gunāḍhya's Bṛhat Kathā which contains a lot of other stories the author of Tamil Perunkathai has taken only the portions relating to the life af prince Udayana. The story consists of 6 main chapters. Uñjaik-Kānḍam, Lāvāṇak-Kāṇḍam, Maghadak-Kānḍam, Vattava Kāṇḍam, Naravāna Kānḍam and Thuravu Kāṇḍam, all relating to the rich life of Udayana. Udayana was the son of Śatânika of the Kuru ḍynasty who ruled over Kauśāmbi Śatānika's queen was one Mrgāvati. When she was in an advanced state of pregnancy she with her attendants was playing in the upstairs of her palace She had herself and her attendants and the whole background adorned with plenty of red flowers and red silk clothes After play she fell asleep on her cot. The most powerful bird of Hindu mythology 'Śarabha' mistaking the place to be strewn with raw flesh on account of the red flowers strewn across carried away the cot with Mrgāvati sleeping on it to Vipulācala When Mrgāvati woke up she was surprised to find herself in strange surroundings The bird which carried her there realising that what she carried was not a mass of flesh but a live human being, went away leaving her there. Just at that moment she gave birth to a son, the future Udayna. To her welcome surprise there was her father Çētaka, who, after renouncing his kingdom, was spending his time there as a Jaina

Yogin When he heard the cries of the baby he went there and found his daughter Mrigāvati Since the child was born about sun rise he was named Udayana On the same hill Vipulācala there was living one Brāhmana Risi Brahmasundara with his wife Brahma sundari Cetaka Muni the father of Mrigāvati placed his daughter and her child in the care of Brāhmana Muni where they were looked after as members of his own family This Brāhmana Rsi had a son by name Yūgi and Yūgi and Udayana became very intimate friends from the childhood which friendship lasted through their life After some time Cetaka Muni s son who was ruling over his kingdom after his father s abdication, himself wanted to renounce it and wanted to become a Tāpasa He went to his father to appraise of his intention met there the beautiful youth Udayana whose identity was revealed by the grandfather When Udayana was known to be his sister s son he was gladly taken back to the city to rule over his grandfather s kingdom He took with him his playmate and friend Yūgi who was always of great help to him throughout his career While he was living with his foster father Brahmasundara Muni he was taught by that Brāhmana Rsi a valuable Mantra with the help of which even the most violent mad elephant could be made as quiet and harmless as a sheep He also had as a gift from the same Brāhmana Rsi a divine musical instrument whose notes would subdue and tame even the wildest of elephants With the help of this Mantra and the musical instrument while living in the forest Āsrama he once subdued a famous elephant which afterwards was known to him to be a divine one and capable of immense service to him for several years When Udayan went to Vaiśāli his grandfather's place he took with him not only Yūgi, his playmate and friend but also this elephant who was willing to serve the prince Udayana While Udayana was thus ruling at Vaiśāli his father Śatānika who was in great sorrow because of the loss of Mrgāvati after searching for her in various lands went to Vipulācala where he discoverd his queen under the protection of her father With the permission of her father she was taken back to Kausāmbi by Śatānika After some time Udayana inherited his father s kingdom also and thus he was the lord of both Kauśāmbi and Vaiśāli Then begin the real adventures of Udayana By careless ness he loses the divine elephant He roams about in the forest with

his Veenā in hand in search of his elephant. Just then the emperor of Ujjain, Prachchodana by name sends messengers to collect tribute from the kings of Vatsa and Kauśāmbi His minister Śālankāyana advises him to desist from such an adventure and asks him to wait for a better opportunity When Udayana is roaming about in the forest, which is the best time to capture Udayana as a prisoner, Prachchodana sends a machine in the form of an elephant within which are hidden soldiers with weapons. This mechanical elephant, like the Trojan horse, is taken to the forest in which Udayana is searching for his lost elephant. Imagining that it is some wild elephant Udayana approaches this machine elephant and suddenly soldiers jump out of its body and capture Udayana a prisoner. He is taken as a captive to Ujjain While he is kept as a prisoner for some time, his friend and minister Yūgi learning that prince Udayana is kept as a prisoner by the king of Ujjain makes up his mind to somehow release him from imprisonment and to punish the king of Ujjain for his impertinence. So he goes there in disguise with other friends and lives in the outskirts of Ujjain, waiting for his better time. While in disguise he informs Udayana secretly his presence in Ujjain and promises him that very soon he would be released. To create an opportunity he with the help of his friends used the Mantra to make the royal elephant mad and uncontrollable. The elephant breaks loose the chains and rushes into the streets of the city causing tremendous damage on its way. No one is able to control him. Then the king Prachchodana learns from his minister Śālankāyana that the only person who is able to control such a wild elephant is Udayana who is kept in prison The king sends for him immediately, and promises him freedom if he will only control the wild mad elephant Udayana with his musical instrument makes the mad elephant as tame as a cow and thus pleases the king very much Udayana obtains his freedom and is kept by the king of Ujjain as a musical instructor to his daughter Vāsavadattā. With the help of his minister Yūgi, Udayana who wins the heart of Vāsavadattā manages to run away from the capital carrying Vāsavadattā with him on the back of the elephant Nalagiri Thus ends the first chapter called Uñjaik-Kāṇḍam narrating the adventures of Udayana in the city of Ujjain

The next chapter is called Lāvāna Kāndam because it pertains to the incident in Udayana's life in the city of Lāvāna. After his escape from Ujjain Udayana reaches Lāvāna one of the cities in his own kingdom. Here he marries Vāsavadattā and makes her his queen. In his attachment to his beautiful wife, he forgets and completely neglects his duties as a king. This is not liked by his friends who realise there is much to do yet because during the absence of Udayana as a prisoner in Ujjain his kingdom was captured by the ruler of Pāñcāla who was not friendly disposed towards the kingdom of Kausāmbi. Hence Yūgi arranges to separate Vāsavadattā from her husband Udayana. By a clever trick he makes Udayana believe that his whole palace is burnt to ashes and the queen Vāsavadattā is also burnt to death. Before setting fire to the palace Vāsavadattā with her attendant is taken away through an underground passage to a safe place where they are kept in concealment. These are some of the important items of Udayana's life narrated in the second chapter.

The third chapter Magadha Kānda deals with Udayana's adventures in Magadha Desa. Udayana was very much dejected because of the loss of the queen Vāsavadattā and goes to Rājagṛha the capital of Magadha for the purpose of winning back the supposed dead wife Vāsavadattā through the help of a great Yogin who is reputed to be able to revive even dead persons with the help of Mantra. There he happens to meet the Magadha king's daughter Princess Padmāvati. At the first sight they fall in love with each other. Udayana who is living in disguise as a Brāhmana youth manages to win princess Padmāvati completely and thus has a Gāndharva Vivāha with her without the knowledge of the king. While so living in disguise Rājagṛha was surrounded by enemies. Udayana manages to defend the city against the enemies with the help of his friends and thus manages to win the confidence and gratitude of the Magadha emperor. Finally Padmāvati, the king's daughter is given in marriage to Udayana and he was living happily in Rājagṛha with this queen Padmāvati.

Then begins the fourth chapter called Vattava Kāṇḍam. This refers to Udayana's reconquest of his own Vatsa kingdom with the help of his father-in-law, the king of Magadha There he is welcomed by his old people who had the bitter taste of the tyranny of the Pāñcāla king. Thus securing the confidence of his subjects he settles down in his own kingdom Vatsa Dēśa, living happily with his queen Padmāvati One day he dreams of meeting Vāsavadattā and this dream revived his attraction to his former queen Vāsavadattā. In the meanwhile, his friend Yūgi who always comes to his rescue in difficulties appears before the gates of Rājagṛha with Udayana's former queen Vāsavadattā Udayana was delighted to meet his wife whom he supposed to be dead and takes her to his palace with the consent of Padmāvati and is living happily in Rājagṛha with his two wives.

While he was spending his life happily with his two queens, Vāsavadattā and Padmāvati, he happens to meet Mānanikā, the beautiful young playmate of the queens He falls in love with this stranger and arranges with her secretly to meet at an appointed place in the night Vāsavadattā comes to know of this, and imprisons Mānanikā and herself dressed in disguise as Mānanikā waits for the appearance of Udayana according to the appointment Udayana is received coldly by Vāsavadattā in disguise when Udayana imagining her to Mānanikā, her lady-love, begs her in various ways to accept him Then Vāsavadattā discovers herself to the chagrin of Udayana who escapes back to the palace just about the time of dawn. Early morning Vāsavadattā sends for Mānanikā in order to punish her for her impudence in aspiring for the king's hand In this excitement a messenger from the king of Kośala brings a letter to Vāsavadattā In this letter the king of Kośala narrates the story of his sister who was carried away as a captive by the Pāñcāla king, of how she was released with a number of attendants by Udayana when he reconquered the country by defeating the king of Pāñcāla and how she was got as an attendant to Vāsavadattā herself with an assumed name Mānanikā and finally requesting Vāsavadattā to treat this Kosala princess with kindness and consideration becoming her status. When

Vāsavadattā reads this letter, she apologises to Mānanikā for her conduct and restores her to the status and position fitting the princess Finally Vāsavadattā herself arranges for her marriage with Udayana who is found to be in love with this Kośala princess

The fifth chapter deals with the birth of a son and heir to Udayana After some time the queen Vāsavadattā gives birth to a son called Naravāṇadatta Even before his birth astrologers predicted of his greatness and that he would become an emperor of Vidyādhara kingdom though born in an ordinary Kshatriya family In course of time this Naravāhana inherited from his father Kausāmbi and Vatsa kingdoms and from his grandfather Vidyā dhara kingdom of Ujjain In due course his father Udayana renounces the world and becomes an ascetic devoting his time in meditation and Yoga This Udayana's renunciation forms the subject matter of the 6th and the last chapter of this Tamil classic Peruṅkathai

Merumandira Purānam —This Merumandira Purānam is an important Tamil classic though it is not included in the category of Kāvyas It resembles in excellence of literary diction the best of Kāvya literature in Tamil It is based upon a Purānic story relating to Meru and Mandira The story is narrated in Mahāpurāna as having taken place during the time of Vimala Tīrthaṅkara The author of this Merumandira Purānam is one Vāmana Muni who is the same as the Vāmana Muni the commentator of Neelakesi. This Vāmana Muni lived about the time of Bukkarāya about the 14th century In this also the story is used as a framework for expounding important philosophical doctrines relating to Jainism

The story is connected with the city of Vītaśoka the capital of Gandhamālini in Videha Kshetra The name of the king who ruled over this country was Vaijayanta his queen Sarvasri He had by this queen two sons Sañjayanta and Jayanta The eldest Sañjayanta, heir to the throne was married to a princess by whom a son was born to him called Vaijayanta after the grand father The old king

who now had his namesake grandson thought it better to abdicate the kingdom in favour of his son, himself desiring to enter Tāpasa Āśrama as a Yogin. But his two sons did not care much about the royal splendour and hence expressed their desire to renounce the kingdom and follow their father. Thus the grandson Vaijayanta was made the king and the three, father and two sons, adopted asceticism and went to spend their life in Yoga. While the three were engaged in penance the father Vaijayanta because of his success in Yoga soon managed to get rid of his Karmas and became a Sarvajña As it is usual at such times all Devas assembled there to offer worship at the feet of this Jīvan-Mukta. Among those assembled there was a beautiful Deva, Dharanendra by name, who appeared with all his divine paraphernalia The younger brother Jayanta who was also engaged in penance noticed this beautiful Deva and desired to become one like him in his next birth As a result of this desire and also as the fruit of his incomplete Yoga he soon became a Dharanendra himself. But the elder brother Sañjayanta continued his Tapas without any wavering even after his father's attainment of Mukti. While he was thus engaged in Tapas, a Vidyādhara who was going in his own Vimāna in the sky noticed this Yogin beneath. He also noticed that his Vimāna would not cross beyond the region where this Yogin was standing This roused his anger. He picked up this Yogin, Sañjayanta Bhattāraka, and carried him to his own land. Dropping him in the outskirts of his country he told his people that Sañjayanta was their enemy and instigated all his countrymen, the Vidyādharas, to treat this Yogin in all possible forms of cruelty. These Vidyādharas in ignorance ill-treated this Mahāmuni as bid by the wicked Vidyādhara, Vidyuddanta In spite of these cruelties the Yogin did not lose his meditation. Nor did he get angry at the enemies who did all this in ignorance. As a result of this supreme spiritual isolation and peace in the midst of sufferings caused by his enemies he attained Samādhi On account of this spiritual victory he was in his turn surrounded by Devas for offering him adoration and worship. In the midst of these Devas was found his own brother the new Dharaṇendra This young Deva Dharaṇendra noticed that his elder brother was cruelly

treated by the Vidyādharas who were still there staying in dismay at the wonderful sight of the Devas gathered there to offer service and worship to their former victim Sañjayanta Bhaṭṭāraka and he was in a rage He wanted to bundle up all these Vidyādharas and cast them in a body into the ocean as a reward for their mischief But all tho Vidyādharas openly confessed their mistake and appealed to him for mercy, for it was all due to the mischevous instigation of their leader Vidyuddanta and not of their own free will Hence Dharanendra forgave them all He would not let go this wicked Vidyuddanta without proper punishment Hence he went to bind this one wicked fellow at least for the purpose of ducking him to the sea Just then one of the Devas assembled there Ādityāpadeva advised this young Dharaṇendra not to do any such thing Dharaṇendra in reply said How could I brook the suffering inflicted on my brother by this wicked fellow and how could I accept your advice even in the presence of inexcusable evil? To which Ādityāpadeva replied In this spiritual realm evil is not to be requited with evil You attach so much importance to your relationship to your brother But if you would only know the inter relationship that you had in your previous births you would clearly realise the silliness in emphasising one particular relation in a long chain of multifarious relations that one has in series of births Further hatred and love are important factors in determining the future births the former gives a bad turn and the latter a good turn to one s future Hence I would advise you not to worry your self about this wicked Vidyādhara Vidyuddanta Even the Yogin Sanjayanta who had to suffer so much pain at the hands of this wicked person had forgiven him because all this was done in ignorance. Hence why should you bind yourself with Karma created of hatred by attempting to punish this wicked Vidyādhara? Hearing this advice from his friend Ādityāpadeva, Dharanendra requested him to give more details about his previous births Ādityāpadeva narrated the following story for the edification of Dharanendra There was a king named Simhasena ruling over Simhapura He had a queen named Rāmadattā Devi His minister was one Śribhūti who was also called Satyaghoṣa because of his honesty and truth speaking Just about that time there was

a merchant, by the name Bhadramitra, belonging to another land. He went out to Ratnapura with his ship-load of goods, returned with an enormous quantity of wealth in the form of jewels and precious stones. This Bhadramitra visited Siṁhapura on his way. Seeing the prosperity and the beauty of the town, hearing the good nature of the king and his minister, he made up his mind to settle down in that city Siṁhapura Hence he wanted to go to his native place to bring all his people to this city. In the meanwhile, he thought of leaving all his wealth obtained by the sea-borne trade in the safe custody of some one in the city. He could not think of anybody except the minister Satyaghosa He went and told him of his resolution to settle down in this beautiful city of Siṁhapura and requested him to keep in his safe custody the several jewels and precious stones which he had with him. The minister Satyaghosa consented to this A box containing jewels was deposited with the minister and the merchant-prince went to his native place for the purpose of returning with his relations and friends In the meanwhile, even the honest minister Śribhūti, at the sight of valuable precious stones deposited with him by the merchant, became covetous He wanted to misappropriate the whole thing for himself. Hence when the merchant returned to Simhapuri, he bought for himself a palatial building for his residence. Leaving his people there, he went to the minister to get back his jewels. But Bhadramitra found the minister Satyaghoṣa completely changed. Instead of gladly returning the casket containing the jewels, Satyaghoṣa treated the merchant as an utter stranger as if he had not heard anything of him before and. denied all knowledge of the casket of the jewels. This completely upset the poor merchant, and he went about the streets crying of this injustice and begging for help. Nobody in the town would believe anything against the minister, Satyaghosa, because he was famous for his integrity and honesty. Naturally people thought that this foreign merchant was a mad fellow falsely accusing the minister of misappropriation. But this merchant Bhadramitra even in his ravings was quite consistent, which consistency could not be associated with any mad man. Hence the queen was attracted by this merchant's cries. She made inquiries and found to her surprise that the minister was really a culprit

But as there was no evidence for the deposit of the casket with him nobody would come forward as a witness in favour of the merchant But the queen Rāmadattā Devi being sure about the casket requested the king to intervene on behalf of the merchant. The king would not listen to this As an alternative the queen wanted permission to deal with the case herself This was readily granted Then the queen Rāmadattā Devi invited the minister Satyaghosa for a game of chess In the first game she won the minister s Yajñopavita and the signet ring as stakes Having won these two important things insignia of the minister she secretly sent these two things through her attendant to the treasurer She instructed the attendant to show these two things to the treasurer and to get from him the casket of jewels beloning to the merchant deposited in the royal treasury in secret by the minister When the attendant brought the easket it was an eye opener to the king Then he realised the crime of the minister The minister himself now knew that he was discovered by the queen Still the king wanted to test the honesty of the merchant Therefore he had this casket placed in the midst of several others belonging to the royal treasury and asked the merchant Bhadramitra to take all these He would not touch the others except his own Even within the casket there were other precious stones put together with those belonging to the merchant. The merchant took up his own things and rejected the others as not belonging to him This behaviour of the merchant impressed the king and others assembled there They all praised the honesty of this merchant and condemned the minister for his avarice The king dismissed the minister from service aud banished him from the city after disgracing him The minister went out nourishing hatred towards the king and the queen As a result of this hatred he was born as a serpent in the royal treasury room and when the king entered the treasury he was bitten by this snake and killed As a result of this animosity these two were born as enemies in several successive births This wicked Vidyādhara whom you want to punish at present was that Satyaghoṣa the minister who was disgraced on account of his dishonesty The king Simhasena after series of births and deaths appeared as Sañjayanta who just

attained Mukti We are all assembled here to offer Pūjā to this Sañjayanta who was in his former birth the Simhasena Mahārāja The queen Rāmadattā Devi is myself, I, born at present as Ādityāpadeva, and you are the younger brother of this Sañjayanta or you because of your longing for Deva-glory became Dharaṇendra Hence it would be advisable on your part to give up this hatred and pursue the path of righteousness. The Dharanendra accepted this advice given by his brother Deva, got rid of this hatred, and began to medidate upon Dharma. The wicked Vidyūdhara Vidyuddanta who was listening to this story was also ashamed of his past and resolved to lead a better life thereafter. Then the two Devas, Ādityāpadeva and Dharanendra, who were formerly the queen Rāmadattā Devi and her son respectively, after a period of Devahood, were born as sons to the kings Anantavirya who ruled Uttara Madurā This king had two queens Merumālini and Anantamati. Ādityāpa was born as a son to Merumālini and was named Meru. Dharanendra was born to the second queen Amṛtamati and was named Mandara Just about that time Vimala Tirthankara appeared in an Udayāna adjoining to Uttara-Madurā with the object of teaching the Dharma. These two princes, Meru and Mandara, went on their royal elephant to offer Pūjā to this Tirthankara and listen to his preachings Listening to this Dharma Upadeśa these two princes became his disciples and were accepted as Ganadharas, chief disciples, of the Lord They, in their turn, spent their life in propounding Dharma and finally by the performance of Yoga attained Mukti The classic is named after these two princes Meru and Mandara, hence is called Merumandirapurāṇam It consists of 30 chapters of 1405 stanzas on the whole Some ten years ago the present writer published this work with introduction and notes, and it is available to the reading public.

Sripurāṇa :—This Śripurāṇa is a very popular work among the Tamil Jainas. I do not think there is anybody who has not heard the name Sripurāṇa It is written in an enchanting prose style in the Manipravāla, mixed Tamil and Sanskrit. It is based on Jinasena's Mahāpurāṇa and is also further called 'Triṣaṣṭiśalākapuruṣa-purāṇa' dealing with 63 heroes. It is by an unknown author. Most probably

it is a corresponding work to the Kannada Trisaṣṭiśalākāpurusa Purāṇam by Cāmunda Rāya Hence it must be later than the Jinasena Mahāpurāna and Camundarāya s Kannada Purāna The 63 heroes whose history is narrated in this work are the 24 Tirthankaras the 12 Cakravartins 9 Vāsudevas 9 Baladevas and 9 Prativāsudevas In the case of Cūlamani story we already noted Tiviṭṭan the Vasudeva, Vijaya and Baladeva and Aśvagriva the Prativāsudeva Similarly Rama Laksmana and Rāvana of Rāmāyana fame are included in this nine groups as Kesava Baladeva and Prativāsudeva Similarly Sri Kriṣna of Bhārata fame is one of the nine Vāsudevas his brothers Balarāma is one of the Baladevas and Jarāsandha of Magadha one of the nine Prativāsudevas While narrating the life of each Tirthankara stories of the royal dynasties are also given Thus this work Śripurāna since it contains the stories of these 63 heroes is considered to be the Puranic treasure-house from which isolated stories are taken by independent authors Unfortunately it is not yet published It still lies buried in palmleaves manuscript and it is hoped that some day in the near future it will be made available to the students of Tamil literature

Next we have to notice some works on prosody and grammar contributed by Jaina authors

Yāpparungalakkārikai —This work on Tamil prosody is by one Amṛtasāgara Though it is not definitely known at what period he lived it may be safely asserted that the work is old by 1000 years Since the invocatory verse is addressed to Arhatparameṣṭhi it is obvious that the work is by a Jaina author The author himself suggests that the work is based on a Sanskrit work on the same topic Probably it is a translation of that Sanskrit work There is a commentary on this work by one Gunasāgara who was probably a contemporary of this Amṛtasāgara Probably they both belong to the same Jaina Sangha That it is an important work on prosody that it is considered as an authority on metres and poetic composition, and that it is used as such by later writers are evident from the references to it found in Tamil literature

Yāpparuṅgala Virutti :—This is also a work on Tamil prosody written by the same author, Amṛtasāgara. There is an excellent edition of this Yāpparungala Virutti by late S Bhavnandam Pillai.

Nemināthạm : A work on Tamil grammar by Gunavirapaṇḍita. It is called Nemināthạm because it was composed at Mylapore the seat of the Jaina temple of Neminātha The author Gunavirapaṇḍita was disciple of Vachchananda Muni of Kalandai The object of this work is to give a short and concise account of Tamil grammar, because the earlier Tamil works were huge and elaborate From the introductory verses it is clear that this was composed before the destruction of the Jaina temple at Mylapore by a tidal wave. Hence it must be placed in the early century of the Christian era. It consists of 2 main chapters Eluttadhikāram and Śol Adhikāram. It is composed in the well-known Veṇbā metre It is printed together with a well-known old commentary in the Tamil journal Śentamil issued by the authorities of the Tamil Sangam at Madura.

The next work on Tamil grammar we have to notice is Nannool 'the good book.' It is the most popular grammar in Tamil language. It is held only next to Tolkāppiyam in esteem. It is by one Bavanandi Muni who wrote this grammar at the request of a chief called Śiya Ganga The author was well-versed not only in Tamil grammatical works, Tolkāppiyam, Agattiyam and Avinayam, but also with the Sanskrit grammar, Jainendra, being a great scholar both in Tamil and Sanskrit. This grammar, Nannool, he wrote for the benefit of the later Tamil scholars. It is prescribed as a textbook for schools and colleges; hence we may say without exaggeration that no Tamil student passes out of school or college without some knowledge of this Tamil grammar. There are a number of commentaries on this work. The most important of these commentaries is the one by the Jaina grammarian Mailaināthar. Mailaināthar is another name for Neminathan who was the God at the Mylapore Jinālaya We have an excellent edition of this Nannool with this Mailainātha's commentary made available to the public by Dr. V. Swaminatha Ayyar. The work consists of two parts

Eluttadhıkāram and Sol Adhıkāram which are sub-dıvıded into five minor chapters

In this section on grammar we may also notice the work called Agapporuḷviḷakkam by one Nār Kavırāja Nambı His proper name is ambı or Nambı Naınār because he was expert in 4 different kinds of poetic composition he was given the title of Nār-Kavırāya He was the native of Puḷiyangudı on the banks of the river Porunaı Pāndımandala This work Agapporuḷviḷakkam is based upon the chapter on Porul Ilakkanam in Tolkāppyıam It is an exposition of the psychological emotion of love and allied experiences

The contribution by Jainas to the Tamil Lexicography is also worthy of note There are three important works on Tamil Lexicography the three Nighantus are Divākara Nighantu Pingaḷa Nighanṭu and Cūdāmanı Nighantu All the three are dictionaries in verse which traditional scholars got by heart in order to understand the more intimate classics in the language The first is by Divākara Munı the second by Pingaḷa Munı and the third by Mandala Purusa Tamil scholars are of opinion that all the three were Jainas The first Divākara Nighanṭu is probably lost to the world but the other two are available Of these the last is the most popular From the introductory verses written by the author of the third work Cūdāmanı Nighantu it may be learnt that he was a native of the Jain village Perumandur which is a few miles distant from Tindivanam, the headquarters of the Taluk of the same name in South Arcot District The author further refers to Gunabhadrācārya a disciple of Jinasenācārya This Gunabhadra is the author of Uttara Purāna which is the continuation volume to Jinasena s Mahāpurāna Hence it is clear that this Mandala Puruṣa must be later than Gunabhadra He also refers to the other two Nighantus which ought to be therefore earlier to Cūdāmanı Nighantu The work is written in Viruttam metre and contains 12 chapters The first section deals with the names of Devas the second with the names of human beings, the third with lower animals the fourth with the names of trees and plants the fifth with place names the sixth

dealing with the names of several objects, the seventh deals with the several artificial objects made by man out of natural objects such as metals and timber, the eighth chapter deals with names relating to attributes of things in general, the ninth deals with names relating to sounds articulate and inarticulate, the eleventh section deals with words which are rhyming with one another; and hence relating to a certain aspect of prosody, the twelfth section is a miscellaneous section dealing with the groups of related words We have a very useful edition of this Cūdāmani Nighaṇṭu with an old commentary by late Arumukha Nāvalar of Jaffna. Similarly there is an edition of Pingaḷa Nighantu by a Tamil pandit by name Śivan Piḷḷai

Having disposed of grammar and Lexicography, let us turn our attention to one or two miscellaneous works Tirunūrrantadi by Avirodhi Alvār. The 'Antadi' is a peculiar form of composition where the last word in the previous stanza becomes the first and the leading word in the next stanza. 'Antadi' literally means the "end and beginning." This constitutes a string of verses connected with one another by a catch-word which is the last in the previous stanza and the first in succeeding stanza Tirunūrrantādi is such a composition containing 100 verses. It is a devotional work addressed to God Neminātha of Mylapore The author Avirodhi Ālvār was a convert to Jaina faith It is said that one day while he was passing by the side of Jinālaya he heard the Jaina Ācārya within the temple expounding to his disciples the nature of Mokṣa and Moksa Mārga Attracted by this exposition he entered the temple and listened to the teacher's discourse Desiring to learn more about this he requested the Ācārya to permit him to attend the lectures, which permission was readily granted Finally he became a convert to the faith and in recognition of this change in his life, he composed this Tirunūṟrantādi dedicated to the God Nēminātha of Mylapore It is a very beautiful devotional work containing a few facts relating to the author himself. It is published with notes in Śen Tamil Journal conducted by the Tamil Sangam, Madura.

Tirukkalambagam is another devotional work by the Jaina author by name Udici Deva He belongs to the country of Thondamandalam He was a native of Arpagai, a place near Ārni in Vellore District. The term Kalambagam implies a short of poetic mixture where the verses are composed in diverse metres This Tirukkalambagam by Udici, besides being devotional is also philosophical in which the author tries to discuss the doctrines of the rival faiths such as Buddhism *It probably belongs to a period later* than that of Akaḷanka the great Jaina philosoher who was respon sible for undermining the supremacy of Buddhism in the south and who was probably a contemporary of Kumārilabhaṭṭa the Hindu reformer

Jainas were also responsible for contributions to Mathematics, Astronomy and Astrology Probably several works relating to these topics have been lost We have at present one repre entative in each Encuvadi a popular work on Arithmetic, and Jinendramālai equally popular work on Astrology Traders who are accustomed to keep accounts in the traditional form get their early training by studying this mathematical work called Encuvadi and the Tamil astrologers similarly get their grounding in Jinendramālai which forms their main stay for their predictions popularly known as Ārūdha

This completes our cursory survey of Tamil literature with special references to Jaina contributions thereto The prevalence of Jainism in ancient Tamil land and its usefulness to the Tamil people are not merely vouchsafed for by the Tamil litarature but are also evidenced by the customs and manners prevalent among the upper classes of the Tamil society Even after the Saivite revival when several Jainas were made under penalty to embrace Hinduism for political reasons these converts to Hinduism who went back to their own respective castes in the Hindu fold zealously preserved their customs and manners acquired while they were Jainas Though

A strict vegetarian among the Hindu Vēlālas is said to observe Śaivam in the matter of food. Similarly the Brāhmanas in the Tamil land are 'Śaivam' strict vegetarians In this respect the Tamil Brāhamana is distinguished as the Drāvida Brahman from the Brahmins in other parts of India who are brought under the category of 'Gauda Brāhmanas' The Drāvida Brahmins wherever they be are strict vegetarians, whereas the Gauda Brahmins all eat fish and some meat also. Bengal Brāhmaṇas who belong to the Pañca Gauḍa group eat fish and meat It is normal with Bengal Bráhmaṇas to offer goat or buffalo as sacrifice to Kāli temple and carry home meat as a Kāli Prasāda. Such a thing is unthinkable in any of the Hindu temples in the south, whether dedicated to Visnu or Śiva Hence it may not be altogether an exaggeration to state that in the matter of purity of food and the purity of temple worship the Jaina doctrine of Ahimsā has been accepted and preserved by the Upper classes of the Hindus in the Tamil land even up to the present day. Of course there are scattered places where animal sacrifice is offered to the Village Gods But it must be said to the credit of the upper classes among the Tamil Hindus that they have nothing to do with this grosser form of Kāli worship. With the growth of education and culture, it may be hoped that even these lower orders in Tamil society will give up this gross and ignorant form of religious worship and elevate themselves to a higher religious status actuated by purer and nobler ideals.

END

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain M R A S

Continued from Vol VI No II, page 50

attain to *Svarga* only[143] Therefore the belief of Asoka that the result of meritorious deeds is attainment of happiness in heavens is quite in a line with Jainism

8 *Forgiveness of Sins* —Asoka puts great stress on this dogma and was ready to forgive even criminals in no time if they were ready to repent for their bad works and to undergo fasts with distribution of gifts Here too Asoka is behaving according to Jaina method of प्रायश्चित (annullation of sins)

Asoka s missions to Foreign Countries —Asoka sent his Mahamatras of Dharma to foreign countries to propogate the Dharma as his grandson Samprati did sometime after him[144] These countries named in the edicts are Syria Egypt Macedonia Cyrene Carynth and Ceylon and Afghanistan Now if Asoka would have preached Buddhism in these countries surely some evidence of it should have come from there but it is a striking fact that, No Buddhist records are kept in the history of Egypt Mecodonia, Corynth and Cyrene, which countries were supposed to be converted to Buddhism by

---

143 Uttarādhayayana, 24—5

'एव सिक्खासमावण्णे, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगय ॥२४।५॥ उत्तराध्ययन।

× × ×

'गार पि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाण गच्छे सलोगय ॥
सू० प्र० अ० २-१३।

144 'येन सप्रतिना साधुवष धारिनिजकिंकरजन प्रेषणेन अनार्य देशेऽपि साधुविहार कारितवान्'।

Kharataragachchha Pattāvali Sangraha खरतरगच्छ पट्टावली सग्रह पृ० १७

the zeal of Asoka."[145] On the other hand it can be said about Jainism that the influence of that religion is tracable in the above countries in one or other form The Egyptian and Greek philosophy do betray Jain influence[146] Ancient Greek found the Sramanas, who should be Jains, traversing the countries of Euthopia and Abyssinia[147] The Greek philosopher Pyrrho studied near the Jain *Śramaṇas* and preached his doctrine in Greece.[148] A naked *Śramṇāchārya* (Jain preacher) went to Greece as his *Samadhi* spot was found marked at Athens.[149] The Gymnophists, whom Alexander the great encountered near Taxilla were no doubt Jain *Śramaṇas*.[150] It is thus clear that some traces of Jain preaching in Greece are of course available.

Likewise Ceylon seems to had been a great resort of *Nirgranthas* (Jains) till the beginning of christian era; for it is evident from the Buddhist chronicles themselves that Nirgranthas predominated at Anuradhpura in Ceylon, and were influential enough to attract the attention of the ruling monarch, who built a vihāra and a monastry for them in 3rd century B C[151] These continued to flourish till 80 B. C. It means that Jainism remained in Ceylon long after Asoka

The traces of the existence of Jainism in the countries of Arabia, Persia[152] and Afghanistan[153] are also available Therefore it also supports our view that Asoka formed his Dharma on the basis of Jainism and preached it abroad as well

145 J M S XVII p 272

146 See Confluence of Opposites

147 Asiatic Researches, Vol III p 6

148 Historical cleanings p 42.

149 Indian Historical Quarterly, Vol II p. 293

150 JBBRAS IV 401 ff and Saṅkshiptā Jain Itihāsa, Vol II pt I pp 195—198

151. On the Indian Sect of the Jainas, p 15.

152 *Ibid*

153 Cunningham, Ancient Geography of India (new ed.) p 671

Asoka's belief in Jainism and his last edict —Thus it is clear from the aforesaid evidence of inscriptions that Jainism had a claim on Asoka I think he was a Jain layman, sometime in the beginning of his life and professed Jainism But as he advanced in age his spiritual vision got also elevated He became quite liberal and catholic in religious matters He formed his own religious code comprising the gist (Sāra) of all religions and mainly based on Jainism He endeavoured to preach it successfully The seventh pillar edict is the last of all inscriptions of Asoka and it also proves that belief of Asoka in Jainism remained till then for it points to a distinction between ethics of Dharma and Dhyana (meditation) in accordance to Jainism Asoka said emphatically that, 'This advance in Dharma of the people has been promoted only by two ways by regulation of Dharma, and by inner meditation But of these (two) regulation of Dharma is of little effect, but by inner meditation (Dharma may be promoted) greatly (मुनिमान चुया इय धमनि वनि दुवेहि येन आकावेहि धंम नियमेन चनिझतिया च। तत च लहुसे धम नियमे, निझतियावभुय) In Jainism a great importance is given to meditation Knowledge (Jnāna) and meditation (dhyāna) are the chief factor of the asceticism of a Jain Śramana [154] Jain Scriptures exhort a layman to practise meditation [155] According to Jainism meditation is of four kinds and it is different from the *Satya*, *Saucha* and other factors of Dharma [156] Out of the four *Dharma Dhyana* is one, which is the cause for gaining happiness in heavens [157]

---

154 'ज्ञान ध्यान तपोरक्त तपस्वी स प्रशस्यते'—रत्नकरण्डक । Ratnakarandakah

155 'गहिऊण य सम्मत्त सुणिम्मल सुरगिरीव णिकप। त जाणे झाइज्जइ सावय। दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥ —अष्टपाहुड । Ashtapāhuda

156 धम्म सुक च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि।'—मूलाचार Mulachara
'भाव तिविह पयार सुहासुहं सुद्धमेव णायव्व।
असुद्ध च अट्टरुद्द सुह धम्म जिणवरिंदेहिं ॥अष्टपाहुड, पृ० २२४

157 धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोग जुदो।
पावदि णिव्वाण सुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग सुहं ॥११॥प्रवचनसार

Dharma Dhyana again is of four kinds [158] Now in अपाय विचय धर्मध्यान the votary meditates on the means of the good of soul or rather he contemplates that how the people get emancipated from their good and bad actions and progress in Dharma.[159] Asoka's *Dharma vriddhi* is indeed due to this kind of *Dharma Dhyāna* Thus we may be allowed to say that at any rate the spirit of Jainism was near and dear to the heart of Asoka up to the time of inscribing the last pillar edict.

The successors of Asoka:—Asoka exhorted his successors more than once to continue the sacred work of promoting Dharma and they too accordingly seem to have carried out his wishes. Dasaratha constructed caves for Ājīvikas and Samprati who is also called Priyadarśana in the Jain texts, endeavoured his best to follow in the footsteps of his grandfather. There is an opinion prevalent that Samprati also got engraved religious edicts like Asoka and a certain scholar point a few among those of Asoka's inscriptions to belong to Samprati. Likewise Sālisuka, the last eminent Maurya King made a Dharma-Vijaya धर्मविजय in Saurāṣṭra and that was indeed the propogation of Jainism in that part of India.[160] Thus the successors of Asoka also preached out Jainism.

Conclusion:—Under the circumstances and the evidence deduced above it is obvious that Asoka certainly professed Jainism at a certain stage of his life and when he set himself to the preaching of Dharma, though he became libral as to honour all the sects, yet he composed his religious code mainly based on Jain dogmas and betraying Jain spirit from beginning to end No doubt he seems to be Jain at heart when he got inscribed his last pillar edict

158. 'सयगेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापाय विवाय विलओ संठाण विचयं च ॥३९८॥ मूलाचार

159 'कल्लाण पावगाओ पाओ विचिणोदि जिण मद सुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहेय ॥४००॥

160.

and it seems as if the following teaching of Jainism was ever before the eyes and close to the heart of Asoka —

'Religion is the vital principle of the world (धर्मो जगतसार सवसुखाना प्रधान हेतुत्वात्) since it is the first cause of all felicity It proceed from man and it is by it also that man attains chief good From religion, birth in a good family is obtained, bodily health good fortune long life and prowess From religion also spring pure renown, a thirst for knowledge and increase of wealth For the darkest gloom and every dreaded ill religion will ever prove a saviour Religion when duly practised bestows heaven, and final emancipation Svargāpavarga pada (Kalapsutra p 2)

सर्व मङ्गल माङ्गल्यम् , सर्व कल्याण कारकम् ।
प्रधान सर्व धर्माणा, जैन जयतु शासनम् ॥

END

New Studies in South Indian Jainism.

III

Sravana Belgola Culture.

Sec (ii)

Continued from Vol. VI, No II, page 74

(3) No. 46 A C. 1133. Praise of Bûchi Raja son of Dandanayakiti Lakkala Deviti —

"To describe the son of that lady Be it well—of a countenance which brought happiness like the sun to the lotuses of faces of fair ones in the most illustrious abodes of all the worlds; of a body like that of the lord of love himself; delighting, in the bestowal of gifts of food, shelter, medicine and learning; a balm for the sorrows of all the world, adorned with the jewels of all good qualities, his refuge the feet of Jina, such was Bûchana ××× "As of modesty the country, of virtue the birth place, of purity the native land, thus do people ever praise him: a moon in unfolding the water lilies of the wise, the famous Buchi in genersity to others was a Dadhichi, in valour which carried terror into the stoutest warriors, an Arjuna"

(4) No 45 A. C 1117 Praise of Ganga Raja Dandanayaka:—

"Having gained supreme favour, he asked, not at all for kingdom or wealth, but his mind fixed on the worship of Arhad, he asked for Parma[1] (lit. the highest.) And having so asked—He presented it for the worship of the Jinalaya which his wife Lakshmi Devi has made."

Of "the grand remuneration," similar to that of Bhujbali, in the matter of love, coming from the society of war-

1. Name of a village See I S B No 45

lords here is an immortal example at once great and intensely human It is the conquest of sex not by a sanyasi but by a ruling king of Jaina Sampradaya — not by any sex control methods of the modern type but by mental and spiritual culture —

No 57 of A C 982 Praise of Ratta Kandarpa, *Indraraja* Râjamartânda —

The people in the world knew not his power, for when 'ginge' having fallen in love with him and he was attracted to her on finding she was the wife of Kallara he *repelled her* and defeated the conspirators who in consequence fell upon him

× × ×

When still not losing courage she desplaying her charms drew near to him in such guise that all people were spell bound in the snare of her beauty he gave one glance to bring her into his power—And ruling over many lands subject to ' ginge and himself above and below the ghats he without effort escaped the net of the Chakravyûham and gained great fame for his *purity* in all the world (having brought her the wife of another into his power *without falling into Sin*)—This miracle of generosity Ereṇa his cousin seeing her youth and beauty and the endeavours she made to gain the affec tion of Indra Raja which were in so many ways rejected burned with passion for her But altho he fell at her feet and she spoke to him kindly, Indra Raja knowing his mind deadened his desires

Such was Jainism even in medieval India such the influence the cultural influence of Jainism in all ranks of society over men & women in its best days And, Śravana Belgola was the centre the Karma Kshetra (कर्मक्षेत्र) and Prasamsa kshetra (प्रशंसाक्षेत्र) of this heroic faith In disputation and subtility of dialectic, with which the great sages of Belgola and their forbears upheld it in the assemblies of scholars and Royal courts against scholars of other faiths we find few equals

in the original, one such Birudavali, from these Sravana Belgola Inscriptions:—

No. 113 of about 1117 A. C.

"Svasti Samadhigata-pancha-mahāsabda-mahāmandalāchar-yādi prāsastya-virāgita-chihnālamkritarum | Visambō-dhāvabōdhitarum | sakala-vimala-kēvala-jñana-nētra-trayarum | ananta-jñana-darsana-virya-sukhātmakarum | Vidita ddhārakarum | ekatwa-bhāvanābhāvitātmarum | ubha-naya samartthi-sakarum | tridanda-rahitarum | tri-salya nirākritarum | chatu-kashā-Vināsakarum | chatur-vidhāv-upasarga-giri-kandarādi-daireya samanvitarum | pancha-dasa pramāda-Vināsakartugalum | panchāchāra-virya-sāra-pravínarum | samadarusanādi-bhedabhādiga-lum | Satu-karma-sārarum | Saptanayaniratarum | ash-tānganimitta kusalarum | ashta-vidha-jñanāchāra sam-pannarum | navavidhabrahma-chariya vinirmuktarum | dasa-dharma-sarma-sāntarum | Ekādasa sravakā-chārav-upadēsa-bratāchārachāritrarum | dvādasa tapô niratarum | dvadasānga-sruta-pravidhāna-sudhākararum | trayo-dasāchara-sila-guna-dhairya . Sampannarum | embata-nālku-laksha-jivabheda-marganarum | (Sarva-jivi-dayā-pararum) Srimat | kondakundānvaya gagana mārthan-darum | viditōtandakūshmānda......gana gajendra simhākramada dhārāva bhāsurarum."

I shall, now, close this bird's eye-view of Śravana Belgola Culture with brief references to a few points of sociological interest to modern times echoing from these *silaksharas* or stone scripts:

One interesting fact further emerges from a consideration of these inscriptions *viz.*, that *not all* these sages were *sanyasis* Some of them who call themselves munis, even *silentgurus*, seem to have been householders, somewhat like the ancient munis of the forest asramas of Ramayana or Mahabharata times How they could be '*digambaras*' in *fact*, *tho*' *by* descent and tradition from Bhadrabahu they are such, it is not possible to say. Of some

such the following are instances No 15 (archaic) mentions Baladevi Muni born to Kanakasēna No 17 refers to Echalgor ıvı *wife* of Santi Sena Munisa No 19 mentions Singa Nandi *son* of *mountain guru* as against No 25 which mentions a *desciple* of Aritto Nēmi The original Canarese words which suggest these specifi cations are No 19 Mānarkar (मगणर्कर) beside No 25 Sishyam (शिष्यम्) Similarly in No 41 Sri Dhara is distinguished as eldest son (अग्रतनूसत्र) from the sishyar (शिष्यर) Maladhari Deva and Sree Dhara Deva of sage Dāmanandimunipa The differentiation became necessary because there were two Sree Dharas of the same name one sishya and the other the eldest son I am not unaware of the Karakamalasamjāta nyāya by which descent is claimed among *sanyasis* but I do not think that such 'descendants are ever called ' *Tanūbhavas* This fact and the mention of wives of mūnis makes me think that as in the old Vēdic System preserved in the Puranas and the Epics and in some of the modern Indian *pitha* Sampradyas in Jainism also there were some munis or gurus who were either *grhasthas* or *Vānaprasthas* and who *assumed sanyasa* merely at the time of Sullekhana or the time for it approached

Another feature was the religious catholicity of medieval times which made real *reapproachment* and even assimilation or absorption pos ible between Jainism and Puranic Hinduism of the *Matatraya* variety, notwithstanding learned disputations at Royal Courts Such catholicity prevailed especially among *laukyas* or families of high administrative classes that tho their special or traditional religious bent was towards the *Vaidika* Sampradaya that did not prevent them from venerating Jainacharyas or making grants for their basadis or allowing the ladies of their households to show even exclusive devotion to Jaina faith Such catholicity prevailed here in our Andhra country also as much as in the Karnata Country both towards Buddhism and Jainism I shall just mention one instance in passing No 53 of 1131 A C describes Santala Devi,

the celebrated queen of Sree Vira-ganga Vishnuvardhana Poysala Deva as follows.—

> "Her guru being Prabhachandra Sidhanta Deva, the mother who bore her, the mine of good qualities, Machikabbe; the senior Perggada Marasingayya her father; her uncle the pergada singimaiya, her king Vishnuvardhana, *her favourite Jinanadha, Vishnu her God*,—to describe the greatness of Santala Devi is it possible in the world?"

Of the celebrated Sallekhana of Machikabbe, mother of queen Santala Devi mention has already been made. I infer therefore that the queen having come from such a devoted Jaina family, kept up her preference to Jainism, tho' having married a king of a different persuation, she *formally* adopted *Vishnu* as her God Here is a principle of religious reconciliation between *Kula Devatas* and *Ishta Devatas* still active among some Vedic Sampradayas in India making for religious unity Similarly, in this same inscription, it is said further on as follows about the queen's father Marasinga Deva.

> "Who in this age is superior to the pergada the Lord Marasinga... ..in objects of human desire, in great liberality, in pleasure in religious works, in devotion to the lotus feet of *Hara* (*Siva*), in uprightness, in virtue:—thus esteemed"

The history of this interesting family of administrators and generals gives us an idea of how in the first-half of the 12th century A.C, the then keenly contested schools of religion were harmonised. This is an object lesson to modern India, from the history of the Karnata Country, at a time when religious diversity is being taken as an excuse for retarding unity and progress and freedom in politics. Small wonder, then, that, with the spiritual impulses to action of his subjects thus harmonised, that great king *Poysala Vishnuvardhana* had triumphed over his enemies and maintained the integrity and independence of his kingdom.

Another interesting fact emerging from a study of these inscriptions is *the elasticity of caste* in the matter of marriages which the Jaina sampradaya promoted in the Karnata Country even among the dwijas taking to *laukya* occupations Notwithstading the fact that Poysala Vishnuvardhana Deva was a Yadava Kshatriya and a devotee of *Vishnu* the senior Pergada Marasinganja Deva a *brahmin* and a devotee of *Hara* (Siva) gave his daughter in marriage as senior queen to that king and the wonder of it was the king accepted her tho she was a Jaina devotee Here is an instance of a marriage not only between persons of two different faiths regarded as mutually antagonistic, but one between members of two different Hindu Dwija castes The Hindu Smritis may not look with favour on such a *Pratiloma marriage* but that did not stand in the way of its having been enthusiastically approved by the contemporaries and celebrated in an inscription Similarly from No 184 of 1182 A C we get the account of the family of a Brahmin minister *Chandramauli*, of Poysala king Vira Bhallala His wife was Achiyakke whose descent is thus given — In masavadinad there was a perfect Sravaka (Jaina desciple) Siveya Nayaka Deva his wife was Chandavve They had a son Vija Bamma Dava hegadde his brother was Vaveya Nayaka whose sister was Kalavve Her sister wife of Hemmadi deva king of Masavadi was Achala Devi Her brother was sovana Nayaka whose wife was Bachavve They had a son desiya danda Nayaka Bammeya Nayaka whose wife was Dobavve daughter of *Mallisetti* and Mabhave Settikavve Here is an account of intermarriages between Brahmin Kshatriya and *Vaysya* castes under the liberating influence of Jainism in the Karnata Country The term '*nayaka* like pergade or heggade, was an official title. Even in Vedic times all *dwijas* were one and it was only *karma lopa* and consequent differences of achara that devoloped them into *strictly endogamous* castes in later times

The view that even *sanyasa* was practised in ancient or medieval India merely as a means of running away from the duties and responsibilities of life is wholly incorrect in regard to the development of *muni* or *parivrajaka* sanghas of India among different Sampradayas, tho bad men existed even then among sanyasis as

among householders That this was so is amply borne out by these Sravana Belgola Epigraphs In the view of the sanyasis of Belgola, the "*bettada guravadigal,*" even teaching, *adhyyana* and adhyāpana, the chief occupation of their lives had a "*social goal.*" For instance, in No 108 of 1433 A C. it is said—" He having gone, Siddhanta yôgi arose in the world, by his eloquence unfolding the *siddha sastra,* as the sun in a cloudless sky by his rays causes the groups of lotus to awake from sleep ....'whom' then his lotus feet were tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman, no clothing and no youthful pride, no strength and no wealth could tempt" ...." That learned muni, of great acumen obtained many celebrated desciples, whom he taught *in order to purify the world and diffuse merit in all parts* "Among his desciples noted for his learning, distinguished by his many qualities, was the one named *Srutamuni* ' In descent, character, good qualities, wisdom, learning and form was he worthy, and *having examined him,* he placed him in the *rank of a suri,* considering him proficient And once on a time, reflecting that of his own life but little remained, and thinking him to be able, he *placed him over his own Gana* saying " I will retire to do penance ". " This gana which has descended in my line, do thou maintain its authority as I have done'—thus saying, he *delivered to him his gana*" This account reminds me of the medieval history of *Sree Sringeri Pitham* of the Sankaracharyas in the time of the celebrated Sage Vidyaranya, the famous commentator of the Vedas, but it is even more significant as showing how the sages of India, of all sampradayas and ganas down to the 15th century had regarded themselves as the custodians, developers and distributors of knowledge freely among all classes of people and how their habitats, the great *thirthas* or places of pilgrimage were famous, not because they were 'bathing ghats' or places of worship of 'sacred images,' but primarily because they were *places of instruction, Colleges and Universities of research in Arts and Science and creative learning* Their location and cultural work in the Karnata Country had not only given the world immortal and authoritative works expounding the Jaina doctrine, but enriched Indian and Vernacular languages with several works

in *non religious sastras* and *kalas* useful in the ordinary daily concerns of life Most interesting and energiging of all, through example is the contribution of Sravana Belgola Jaina culture to Karnata Literature and Karnata Polity But these are aspects of South Indian Jainism which require separate and more detailed consideration I believe however enough has been said in this paper to dispell the delusion that Jainism was either merely otherworldly or fantastically stoic and unsocial deserving the commisseration of satirists old or new

---

APPENDIX I

SRAVANA BELGOLA CULTURE

Authors and Works

As we take leave of these sages and the memorial Kavyas about them it would be well to remember some of the sages that by their great gifts of mind and soul developed this great spiritual Culture Some of these prasastis are realistically descritive of the disputational knight errantr es of the more celebrated of them In this view Ins No 42 54 & 105 deserve special mention Herebelow is a list of some of these sages references to whose scholarship and literary work occur in the poems —

A C 1115 (1) No 47—Meghachandra equal to Jina Vira Sena in Siddhanta to Akalanka in six systems of logic and Pujya Pada in Grammar

(2) No 55—Gopanandi a great philosophical dis putant

A C. 1117 No 42 (1) Gunanandi Pandita skilled in Logic, Grammar & Poetry

(2) Sampurnachandra Siddhanta Muni profi-cient in Solar and Lunar Astronomy

(3) Maghachandra promoter of Bharata Sastra

(4) Sri Dhara Deva skilled in Mantras and Medicine

A. C 1128 No. 54 (1) Vajra Nandi Muni author of *Nava Stotra*

(2) Sumati Deva author of *Sumathi Suptakam*

(3) Chintamani Muni author of *Chintamani (Poem)*.

(4) Sri Vardhana Deva author of *Chudamani (Poem)*.

(5) Deva Kalanka Pandita: a great scholar; author of *Sabdanusasana*

(6) Arya Deva, founder of the *Siddhanta* (astronomy ?)

(7) Mahamuni Hema Sena proficient in grammar and Logic.

(8) Santinādha a poetical author known as *Kavitākānta*

(9) Padmanabha a great disputant known as *Vadikolahala*

A. C. 1163 No. 40 (1) Gridhra-Pinchācharya discerner of "*Padartha*"

(2) Pujyapada author of *Jainendra* (grammer, *Sarvarthasidhi* in *Siddhanta* and *Samadhisatak* (Poetry).

(3) Prabhachandra celebrated author on Logic

A C. 1313, No. 41 Maladhari Ramachandra yati author of *Gurupanchaka Smriti*.

A. C. 1398, No 105 (1) Umasvati author of Tatwartha Sutra

(2) Śvakoti Suri author of Tatwartha Sutra-Alankara

(3) Charukirti a great disputant skilled in medical science.

(4) Abhaya Suri "an ocean mine of science without shore"

(5) Charukirti (Sinhanarya) a great disputant in Siddhanta.

A C 1433 Siddhanta yogi expounder of Siddhanta Sastra, a great disputant of vast learning, gentility and humility.

APPENDIX II

Here below are given the names of some of the *Poets* who composed the Śravana Belgola Inscriptions with *specimens* under each of their *Commemorative Compositions* —

It is worthy of note that many of these poets are either officers of states or members of families of hereditary officials, ministers and generals —

No 43 *Mardimaiya A C 1123*

(१) परमाप्ताखिलशास्त्र तत्वनिलय शिद्धान्तचूडामणि
स्फुरिताचारपर विनेयजनतानंद गुणानीकसु ।
द्दरनेंबुन्नतियिं समस्तभुवनप्रस्तुत्यनाग् दिवा ।
करनन्दिव्रतिनाथनुज्वलयशोविभ्राजिताशातटम् ॥

(२) विदितव्याकरणद ।
तर्कद शिद्धातद विशेषदि त्रैविद्या ।
स्पदरेंदी धरे बणिणपुदु ।
दिवाकरनंदिदेवसिद्धांतिगरम् ॥

(३) धरराद्धांतिकचक्रवर्त्ति दुरितप्रध्वंसि कंदर्पसिं
धुरसिंह वरशीलसद्गुणमहाम्भोराशि पंकेजपु
ष्करदेनेमशशांकसंनिभयश श्रीरूपनो हो दिवा ।
करनन्दि व्रतिनिमद निरुपम भूपेंद्रवृंदार्चितम् ॥

No 44 & 47 *Bhavaraja Preggada A C 1121 & 1115*

(१) समदोद्य मारगंधद्विरददलनकंठीरव क्रोधलोभ ।
द्रुममूलच्छेदन दुर्धरविषयशिलोच्छेदवज्रप्रतापम् ।
कमनीय श्रीजिनेंद्रागमजलनिधिपार प्रभाचंद्रसिद्धा ।
तमुनींद्रमोहविध्वंसकरनेसेदं धात्रियोल् योगिनाथ ॥

---

(२) वित्रस्तमल बुधजनमित्र ।
द्विजकुलपवित्र नेंच जगदोल् ।
पात्र रिपुकुलकदरानित्र ।
कौंडिन्यगोत्रनमलचरित्रम् ॥

No. 50. Ganganna who has as titles "Likhita Manohara" and "Paranarisahodara" (1146 A. C)

(१) यन्मूर्त्तिर्जगतां जनस्य नयने कर्पूरपूरायते ।
यत्कीर्तिः ककुभां श्रियः कचभरे मल्लीलतांतायते ।
जेजीयाद्भुवि वीरनन्दिमुनिपो राद्धान्तचक्राधिपः ॥

(२) सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्त्राब्जभाभास्करः ।
षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधो साक्षादयं भूतले ।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिप श्रीपूज्यपादः स्वयम् ।
त्रैविद्योत्तममेघचंद्रमुनिपो वादीभपंचाननः ॥

No. 53. Bokimaiya A. C. 1131 :—

(१) जिनपदभक्ते बन्धुजनपूजितेयाश्रितकामधेनुका- ।
मन सतिगं महासति गुणागूणि दानविनोदे संततं ।
मुनिजनपादपंकरुहभक्ते जनस्तुते मारसिंगम- ।
य्यन सति पाचिकब्बे येने कीर्त्तिसुगुं धरे मेच्चिनिच्चलुम् ॥

(२) सकलकलाश्रयं गुणगणाभरणं प्रभु पंडिताश्रयं ।
सुकविजनस्तुतं जिनपदाब्जभृंगननूनदानिलौ ।
किकपरमार्थमेवेरडुमंन्नेरे बल्लेनुत्ते दंडना- ।
यक बलदेवनं पोगलवुदंबुधिवेष्टितभूरिभूतलम् ।

No 85. *Bappana Pandita* 1180 A C —

(१) श्रीगोम्मटजिननं नर- ।
नागामरदितिजखचरपतिपूजितनं ।
योगाग्निहतस्मरनं ।
योगिध्येयनननमेयनं स्तुतियिसुवेम् ॥

(२) पोडविगे संद गोम्मटजिनेंद्रगुणस्तवशासनक्के क- ।
न्नडगविबप्पनेन्देनिप बोप्पनपंडितनोल्दु पेलूदिवं ॥

No 105 Arhaddasa Kavi 1938 A C :—

इत्यात्मशक्त्या निजमुक्तयेर्हद्दासोदितं शासनमेतदुर्व्याम् ।
शास्त्रौघकर्तृत्रयशंसनांगमाचंद्रतारा-रविमेरु जीयात ।

(२) आस्यं वाणीनिवास्यं हृदयमुरुदयं स्वं चरित्रं पवित्रम् ।

देह शान्त्यैकगेह सकलसुजनता गण्यमुद्भूतपुण्यम् ।
श्राया भया गुणालिर्न्निखिलबुधततेयस्य सोऽय जगत्याम् ।
अत्यारूढप्रसादो जयतु चिरमय चारुकान्तिर्नतीन्द्र ॥

No 108 Mangaraja Kavi A C 1433 —

(१) प्रत्नध्वनिसबधात् सद्रागोत्पादनक्षमा ।
मगराजकवेर्वाणी वाणी वीणायते तराम् ॥

(२) वाग्देवताहृदयरजनमडनानि मदारपुष्पमकरदरसोपमानि ।
आनन्दिताखिलजनान्यमृत वमन्ति कर्णेषु यस्य वचनानि कवीश्वराणाम् ।

B SESHAGIRI RAO

Sree Bharatitirtha
Vijianagram
6th January 1940

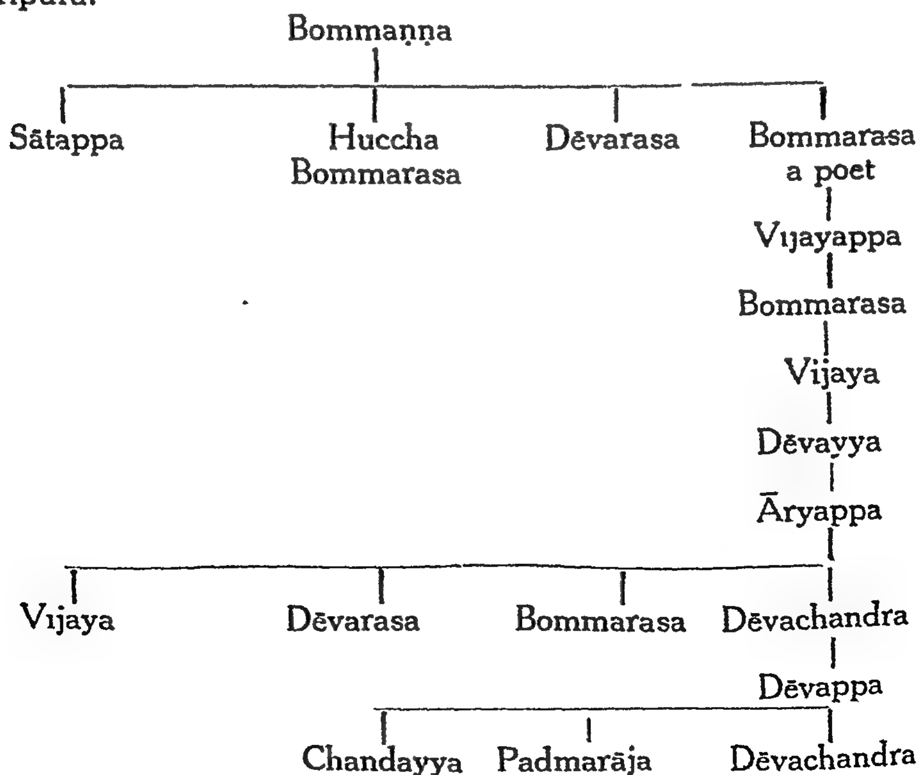
JAINA TRADITIONS IN RĀJĀVAḶI KATHE

By

S Śrikanṭha Śastri, M.A.

Rājāvaḷi Kathe of Dēvachandra is a work completed in 1841 A.D. and its value lies in the traditions[1] about Jainism, its history in Karnātaka, the Literature in Samskrit and Kannaḍa, incidental references to ruling dynasties and contemporary religions. Its historical value is extremely open to doubt, but it furnishes a starting point for further research and hence can not be dismissed as entirely fanciful.

Dēvachandra and his elder brothers Chandayya and Padmarāja were the descendants of a Jaina Brāhmana Bommaṇṇa, an accountant of Giripura.



Dēvachandra was born in 1770 A. D, and from his fourteenth year he began to write poems In his 22nd year (1772 A D) he wrote *Pūjyapāda Charita* in Kannaḍa Since his elder brother Padmarāja is also said to have written that work, both brothers must have co operated in the production Since Dēvachandra presented the *Rājāvali Kathe* to Mummudi Krishna Rāja Wodeyar in 1841 he must have lived for more than 70 years Rājāvaḷikatha was his last work and before that he wrote Rāmakathāvatāra Sumēru Sataka, Bhaktisāra, Satakatraya, Śāstrasāra Laghu Vṛtti, Pravachana Siddhānta, Dravya samgraha, Dvādasānuprēksha Katha Dhyāna Sāmrājya, Adhyātma Vichāra Karnātakā Samskrta Bālanudi, etc He says that when Mackenzie with Sardar Lakshmana Rao came to Kanakagiri, he asked for local records, Dēvachandra showed him his *Pujyapāda Charita* Mackenzie took the poet along with him from Kamarabaḷḷi to Nāgavala and giving him 25 Rupees asked him to send a written account of all the old traditions Dēvachandra began his Rājāvaḷi Katha in 1804 and completed it in 1838 A D Therefore he took nearly 35 years in compiling it In 1841 Dēviramba queen of Chāmarāja heard of the work and asked the author to complete it by adding the history of the Mysore kings Perhaps this was submitted to Kṛishna Rāja Wodeyar III in 1841 42

The work consists of 11 Adhikāras Here I propose to give the translations and summaries of some of the passages in the Rājavali-kathā as are likely to be of interest for the students of history and literature The author s chronology is at times fanciful, and as he writes of the Jaina point of view he criticises, other sects, espe cially Sri Vaishnavas and Vira saivas very harshly

In the beginning the author deals with creation of the 14 worlds, 64 Vidyas, 4 Castes and 18 sub castes and 101 Kulas characteristics of the four castes Kuruvamśa, Harivamsa Nāthavamsa Ugra Vamsa from Kāśyapa, etc Kurus ruled at Hastinapura, Ugras at Kāśi, Nāthas in Kunḍina and at Ayōdhyā, Supratishṭhita, Subāhu, Yasōbāhu, Ajitanjaya and others These four families became famous because of the 24 Tirthamkaras, 12 Emperors, 9

Bala Dēva Vāsudēvas, 11 Rudras etc. Next an account of Vyasa, Kṛishna and Daśāvataras is given Jaina rituals and festivals like Nandiśvara Pūja are dealt with

Mallibhaṭṭa following Maskaripurāṇa invented Islam and composed Mullāśāstra according to the teaching of his master Pārśva Bhaṭṭaraka. [115—118]* The story of Chāṇakya Mahārshi and Navanandas is given [119]. Bhadrabāhu Svāmi fearing a twelve-year famine in Ujjaini migrates (124-7), with Chandragupta Mahārāja Śalivāhana Śaka started 136 years after Vikrama from Rudhirōdgāri in 556 (V N.) and *84gachhas* among Jainas became separated. [135].

In the time of Vasupāla of Indrapura, all Brahmins were Jainas but later they abandoned the Jaina religion and called themselves Vēdantins [162].

In Śaka 200, Pūjyapāda was born to Mādhava bhaṭṭa and Śridēvi of Kollegāla. Pānini of Mudigondam was writing his grammar but before he could complete it his end approached and therefore he asked his maternal uncle Pūjyapāda to complete it Pūjyapāda not only wrote Jainēndra Vyākarana but also wrote a Vrtti to Pānini's grammar [168]. Nāgārjuna also learnt from his maternal uncle or cousin Pūjya pāda the art of converting base metals into gold. Kanakagiri was called Hēmagiri and Parśva Jina, Padmāvati and Brahma were installed Siddha Nāgārjuna was for some time at Hēmagiri where some kings established Gōpala and therefore he went to Śri Śailam [169—171].

Yaśōdhara of Champakāpura gave Śriśaila to his son Śridhara who performed penance there and hence the hill was called Śriparvata and later Śri Śaila To the south of it, at the foot af a Vata tree he obtained Siddhi, therefore the place is called Siddha Vatam. Amarāvati is so called because the Chatur Nikāyas gathered there for Kēvala Pūja. Śridhara was performing penance

* The references in brackets are to the pages of the Manuscript in the Mysore Oriental Library.

at the foot of an Arjuna tree surrounded by Mallikā creepers and and when the Khēcharas worshipped the saint with Mallikā flowers it was called Mallikārjuna When Nāgārjuna went there he established a god now called Mallikārjuna [172 = 178]

Causes for the decline of Jainism In Kalyānapaṭṭana, Samyaktva Chūdāmani Bijjaḷa, son of Chānānka Rāya was ruling with his queen Gunawati and minister Sambuddhi A Jaina Brahmin of Mandige near Ingulēsvar became a Śaiva Brahmin His son was Lingabhaṭṭa who had a son Madi rāja To Mādirāja and his wife Mādalā, a daughter and son (Basava rāja) were born Basava worshipped Kāḷikā and obtained several charms and spells After the death of his parents he became a Brahmin hater and did not perform the marriage of his sister Nāgamma Basava and his nephew Chenna Basava destroyed 6700 Basadis and preached Vira Saivism Mari Bijjala s mother secretly followed Jaina religion and asked her son and the minister Buddhi Sāgara to oppose the activities of Basava [Account of Various Viraśaiva sects]

In Kānchi the king Sivakōṭi s younger brother Sivāyana established I crore of Śivalings Samanta Bhadra converted the king Sivakoti s son Śrikantha became king after his father became a monk [189]

Prabhāchandra Svāmi worshipped Jvālāmālini and taught two brothers Akalamka and Nishkalamka sons of a Jaina Brāhmana They defeated the Buddhists and Virasaivas Then Bhaṭṭākalamka of Sudhāpura composed Akalmkāshṭaka

In Saka 780 64 Jaina Brāhmanas were brought to Sravana Beḷagoḷa for the worship of Gommatēsvara [213]

Amara in the time of Bhōja [216—217]

Kudugaḷur in Kuḍuga Nādu was named Terakanāmbi The Nava Chōḷas Vira Pratāpa Sānta Dēva, Bhū Dēva Bhima, Rudra dharma and Kalikālachōḷa ruled, three were Jainas two Śaivas and two Vaishnavas Dharma choḷa seized by a Brahma Rākshasa

built many Jaina, Saiva and Vaishnava temples and was relieved at Dēvapura, [219].

Hasti Mallishēnāchārya, with his disciples Pārśvapandita, Lōkāpālāchārya etc , and Jaina Brāhmanas of three *gotras* came from Pāndya country and stayed in Jāngala Deśaa Nine other *gotra* Brahmins came to Karnātaka and stayed at Ari Kuṭhāra They were serving under Hoysala Ballāla 700 Jaina families had violated caste customs and 515 refused to perform *prāyaśchitta* but the other 185 families of Gerusoppa. Bhatkal etc , remained true Jainas

At Śāligrāma the Vaidikas were about to sacrifice 21 goats which were rescued by the Jaina saint Dharmāchārya and some Brahmins began to use flour (*pishta paśu*) Mādhvāchārya established Madhwa religion

Kālinga Rāya usurped the Chōḷa throne. Pānchāḷas leave his kingdom and go to Orugal Pratāpa Rudra and having learnt puppet-play kill Kālinga Rāya and his ministers A Jaina Brāhmana named Vidyānanda adapted Mahā Bhārata and Rāmāyana stories for puppet-plays [223].

Among the Jainas several sects like Sthānikas and Bēhara come into existance Among the Jaina Kshatryas Banga, Chauta, Ajila, Sāvanta, Heggade became separate. In Kumbhakōnam, there were 12 Jaina sects In Kanchi, Chōla, Kerala and Pandya countries, the Jaina Brāhmanas formed 5 sects—Upādhyāya, Paṇḍita, Naigāra, etc., Similarly 14 sects of Vaisyas, 14 of kongas, and 12 of Māḷeyālas occurred.

In the Pāndya country Vira Pāndya's son was ruling in Suthern Mathura The Jangamas converted Kūna Pāṇḍya to Vira Saivism. There were Jaina Brāhmanas like Gōpāchārya, Gunabhadra Yatīndra ; and his son Mallipandita, the minister, when coming from the King's Court caught hold of a masth elephant and pushed it aside Therefore he was called Hastimallishēṇa He was a poet in two languages (*Ubhaya bhasha Kavi Chakravarti*) Kuna Pāndya

tried to compel him to become a Lingāyat therefore with his sons Pārśvapaṇḍita and others he came to Kēraḷa with Brahmaṇas of 12 gōtras and 50 Sūdra families and stayed at Vijayapaṭṭana Kūna Pāṇḍya destroyed 985 basadis in the Pāṇḍya country and 50 in Mathura alone Nēminātha the family god of the Pāṇḍyas was hidden away and Kūshmāṇḍini was renamed Mīnākshi The Āṇḍis there persecuted the Jainas and celebrated the festival of pikes (*Śramaṇa Śūlada Habba*)

A smārta Brāhmana named Samkarāchārya studied under a Jaina teacher and becoming a Śuddha Saiva he came to Sringēri where he concealed the Jina image in the Basadi and the goddess now called Sarasvati was worshipped by him He wrote many commentaries and acquired many followers [228]

The Jaina families who came from Pāṇḍya country to Vijaya mangala were honoured by Ballāḷa Raya and settled at Chhatra traya pura

In the family of the Ballāḷas was Vīra Bhūpa who became the Pāṇḍya ruler of Madhura His ancestors were Ratnamauli kīrti pati, Vikrama Vijaya Vikhyāta, Sūra Satyandhara, Brahma Sōma kīrti. Vīra Pāṇḍya's son Kūna Pāṇḍya became a Vīra Saiva His queen Achalā being pregnant was sent to Karnāṭaka Her son Saḷa ruled at Dora samudra [239]

Beṭṭa Hoysala Deva ruled at Talakad and in Arikuṭhāra renovated the Trikuṭa Basadi in 1029 Durmukhi Jyēshṭha Bahula Arkavāra Tulārāśi Bṛhaspati His eighth minister was a Vīra Saiva named Māchirāja who caused a tank to be constructed at Koḷalūr His wife Santavve completed the tank and caused the temples of Śāntaleśvara to be built by Denkanāchāri In S 1104 Plava Vaiśākha Dec 5 she obtained a grant from Ballāḷa She also built the Chenna Sōmeśvara temple at Huliyere and Virūpāksha temple at Hampi Abhinava Pampa wrote *Jinākshara māle Mallinātha purāṇa* and *Rāmachandra* Vīra Ballāḷa made his younger brother Sindhur Ballāḷa—a Vīra Saiva the governor of Toṇḍanur [247] Enemies were attacking the kingdom of the Badshah every year

and the daughter of Badshah took a vow not to marry any one except him who stopped the attacks. Ballala promised to stop the attacks but refused to bow down to the Sultan The Sultan became angry and asked his servants to kill Ballaḷa However they cut off only one finger and therefore he was called Beṭṭu Ballāla.

In the Drāvida country was born the Vaishnava Brahmin Rāmānuja who began to preach Śrivaishnavism in Vidyānagara But the Jainas there defeated him and confiscated all his honours Therefore in a dejected mood he began to fast. His daughters Bhangāre and Singāre consoled him and promised to convert all Jainas into Śri Vaishṇavas. Being accomplished dancers and musicians they came to the Hoysala country. Ballāla received them and in order to teach them the principles of Jainism ordered the Jaina poets to write in Kannaḍa and Samskrit. Aggala Ranna, Honna, Janna Karnapārya, Madhura, Rājahamśa, Nāgavarma, Kēśava and Nēmichandra wrote in Kannada Ballāla's subordinates Kshemankara, Dāmōdara, Padmanābha also caused Purāṇas to be written Nayasēnācharya, Digambare Dā?a Nūtna Kavitā Vilāsa (?) wrote *Dharmāmṛta* Nēmichandra wrote Lilāvati to rival *Kādamabarī* [250] Among the Jainas who came from Dipāngudi, the Brāhmanas of of Bhāradvāja gotra settled in Arikuthāra and Terakanāmbi The sons of Parśva Paṇḍita of Śri Vatsa gotra - Chandrapārya, Chandranātha, Chandanārya etc., became famous. Chandapārya's second son Brahma Sūri wrote *Kaivalya kāra.* Chandranātha and others of Chatra trayapura settled at Kanakagiri [251]

The Delhi Pādśāh married his daughter Varanandi, to the sword of Ballāla and sent her to Karnātaka. Bangāramma and Singāramma requested the king to invite their father Rāmānuja. and the Śri Vaishnavas The king became a hater of Jainas and was converted by Rāmānuja, He destroyed 7(0 basadis in Tondanūr, 16 in Heḍatale, 100 in Kalaśavādi and in the 5 temples meant for Jainas, he established 5 Nārāyanas Rāmānuja toured the country with the title Jairēbha Kanthirava and at Tirupati, Kāśi etc, established Vishnu images He was accompanied by 1,000 panchamas who were named Tirukuladāsas.

In Mêlugôte the Jinālaya was uprooted Cheluva Rāya was established from S 1119 to 1200 Meanwhile near Aḍagūr the earth opened and Ballaḷa requested Hanasôge Chandramunisvara to remedy it The monk consecrated a pumpkin and put it into the hole and the earth closed up Therefore he wa called Chārukīrti and Ballaḷa Jīva Rakshāpāla

The Delhi Sultan when he sent Varanandi had ordered that drums should be placed at an interval of one *gāvuda* in order to know the condition of his daughter When the queens of Ballāḷa made fun of her beauty she caused the drums to be beaten The Sultan sent Viziers each with 1 lac of horses and 18 lacs of foot soldiers Malliga Sudar, Malliga Junnar Malliga Vazier opposed Ballaḷa near Chandra drôna Paravta Varanandi entered the cave in the hill and died Ballaḷa fought for 7 days but could not succeed and therefore entered another cave and perished

Sindhu Ballāḷa and others became Sri Vaishnava Jaina Vaisyas settled at Venkaṭāpura Dāsagauda Banajiga, Tirukuladāsa, Chautāḷa became separate sects The Śrāvakas of Dêvihaḷḷi Keda daravaḷḷi, Aḍugur Sāvantana halli and Hongere gave much wealth to Bangāramma and Singāramma and promising to worship in the name of Vishnuvardhana and Ramanuja escaped conversion There fore they are called Gauḍas Untill then there was no sectarian difference Due to Rāmānuja, Samkara Bhaṭṭa and Rudrārādhya the sects became separate

To be continued

Reviews.

I

Kaṁsavaho, edited by A. N. Upadhye, Hindi Grantha Ratnākara Kāryālaya, Bombay 1940.

Kaṁsavaho, a Prākrit poem by the versatile Kerala poet Rāma Pāṇivāda, has been critcally edited by Dr. A N. Upadhye The work is fitted with a highly elaborate and exhaustive introduction, together with a critical apparatus, English translation, Sanskrit gloss, and explanatory notes in English, with a very useful vocabulary of choice words From the stand-point of Indian Linguistics, the work is a distinct contribution to our knowledge of Middle Indo-Aryan, as many new words, hitherto unknown or unnoticed in Prākrit Lexicons, have been brought to light by the publication of the valuable work, e g., 'siṁkharā' chain, 'mha' in 'vāharai mha' said, 'kuaṁda' bow, etc. The explanation given for the dropping of initial consonants of words like 'cira,' 'kim' is sound, for all linguistic expressions are actually groups of words, in which owing to accent on certain prominent parts, other words must get weakened and lose certain portions This is particularly the case in poetry, in which, for the sake of rythm, certain words receive greater prominence than others In fact it seems to me that Prākrit poetry is in this respect more natural than Sanskrit poetry The printing of the Prākrit section is beautiful, though quite a number of errors in the transliteration of Prākrit words occur, *e.g* 'nolla' for 'ṇolla,' 'nisāu' for 'nisāu' etc. The devocalisation of G in 'aṅkanathaliam' is interesting. I wish the notes had been as exhaustive as the introduction, but this required a number of co-workers, whom, I hope, the learned editor will be able to secure in his subsequent works.

SIDDHESHWAR VARMA,
Professor of Sanskrit, Prince of Wales
College, Jammu (Kashmir)
Sept. 29, 1940,

2

Inscriptions in Northern Karnataka and the Kolhapur State by Prof K G Kundangar M A Printed by the Arya Bhanu Press Kolhapur Demy pp 186+124+44 Kolhapur 1939, Price Rs 3/

Prof K G Kundangar is an indefatigable explorer of epigraphic records many of which he has published in different Journals In this volume he has presented 43 new records collected from different localities in Northern Karnatak and the Kolhapur State They include Grants Viragals and Nisidigals and refer to contemporary rulers from Chālukys Kalachūrya Yādava Raṭṭa and Śilāhāra dynasties of the 11th, 12th and 13th centuries Besides giving the text of Inscriptions in Kannaḍa and Devanāgari Prof Kundangar has added an English translation and a critical Introduction dealing with the political social religious and linguistic aspects of the records presented in this collection At the close we have Kannaḍa and English Indices which greatly add to the referential value of the book The introduction is quite informing and interesting and presents the relevent topics in a systematic manner Prof Kundangar deserves our sincere praise for his patient labours and this volume, as a collection of new records is indispensable to students of South Indian History

A N UPADHYE

3

Neelakesi, The original Text and the Commentary of Samayadivākaravāmanamuni Edited and published by Prof A Chakravarti M A., I E S Principal Government College, Kumbakonam Demy 8 vo pp 12 340 4-484, Madras 1936

Prof A Chakravarti though a philosopher by profession and a Principal of a Government College by circumstances, has edited Tamil texts like Merumandarapurāṇam and Neelakesi in his leisure

time left after carrying out his academic and executive duties; this amply testifies to his zeal for Jaina studies and love for Tamila literature. The readers of Jaina Antiquary are already acquainted with his extensive study of Jaina literature in Tamil, a survey of which from his learned pen is being already published in the pages of this Journal. His Introduction and English Translation of Pañcāstikāya, published in the Sacred Books of the Jainas, have been looked upon as classical contributions on Jainism by the Historians of Indian Philosophy like Sir Radhakrishnan. The reviewer feels sorry that he does not possess a first-hand knowledge of Tamila language, but it is his respectful interest in Tamil Classics and their chronology that tempts him to write a review-notice of the volume of Neelakesi which contains a substantial Introduction in English covering 340 pages After the Tamil text with commentary there is an Index of difficult words at the and One wished that the diacritical points were regularly and carefully used in writing names and technical terms

Neelakesi is a well-known Tamil classic 'The original as well as the commentary are of such literary merit', as the editor puts, 'that the Tamil public would gladly welcome this work. It is mainly intended to expound the doctrine of Ahimsa, in all its aspects and from the same point of view it critically examines other systems of Indian Thought'

Despite the doubt expressed by other scholars, the editor points out that the title of the work is Neelakesi, and it 'was intended by its author as a refutation of the Buddhist work Kundalakesi' which is now lost The name of its author is not known, and from the circumstantial evidence (pp. 5-11) the editor is inclined to put him in the first century A D The name of the commentator is Samayadivākaravāmanamuni who is accepted to be identical with Vāmanācārya, the author of Merumandarapurāṇam; and the editor puts him in the 14th century A D.

The editor has given a detailed summary of this work in his Introduction (pp. 136 ff.), and here and there he has given information

about Buddhism and Ājīvika sect etc which is useful for understanding *the refutation of these systems by the* author The contents show what a wealth of Jaina dogmatic details is given by the author and with what a remarkable acumen the various arguments are advanced to refute different non Jaina systems

From the study of the contents one is reminded of the works of Umāsvāti Samantabhadra Amitagati and others in Sanskrit What strikes one is that the editor has not perhaps distinguished the contents of Neelakesi from those of the Commentary in his summary If an authentic and critical translation of the text alone is made available in English it would not be difficult to settle its age etc. after comparing its contents with those of other Jaina texts in Prākrit and Sanskrit the dates of many of which are not as uncertain as that of Neelakesi By distinguishing between the contents of the text and the commentary we can get a good picture of the intellectual equipment of the author some clear idea about the Buddhist texts which the author might have used and lastly some glimpses of the Buddhist influence in the Tamil country

That the Jainas are known by the names Nirgrantha and Śramana in Tamil literature (pp 9 27) reminds us of the usage in the Ardhamāgadhi canon and in the works of Kundakunda etc If we get critical and literal English translations of early Jaina texts in Tamil a very fruitful field of research can be opened On the one hand the details that we get about *Jainism in Prākrit* and Sanskrit works can be supplemented by these Tamila texts for ome of which greater antiquity is claimed and on the other, the dates of Tamil texts can be settled in the light of the chronology of Jain works in Prākrit and Sanskrit I do appeal to Tamil scholars to prepare philologically authentic translations of early Jaina works in Tamil

Some of the remarks of the editor with regard to the customs etc in the Jaina community (pp 30 etc) appear to be special in many cases to the Tamil they deserve to be compared with those in other provinces

Prof. Chakravarti deserves our sincere thanks for his labours on this important Tamil classic and its commentary both of which he has rescued from oblivion and presented their contents in English that they might be available to a wider public We feel no doubt that Tamil scholars will welcome this volume with great pleasure.

A N UPADHYE.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI 1940

Edited by

Prof Hiralal Jaina M A LL B
Prof A N Upadhye M A, D Litt
Babu Kamta Prasad Jaina M R A. S
Pt. K Bhujabali Shastri, Vidyabhushana

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs 3 Foreign 4s 6d Single Copy Rs 1 8

CONTENTS.

RULES.

1 The 'Jaina Antiquary is an Anglo half yearly Journal which is issued in two parts, i.e, in June and December

2 The inland subscription is Rs 3 (including Jain Sidhanta Bhaskara) and foreign subscription is 4s 8d per annum, payable in advance Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1 8 0

3 Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication The rates of charges may be ascertained on application to the Manager 'Jaina Antiquary The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4 Any change of address should also be intimated to him promptly

5 In case of non receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication the office at Arrah should be informed at-once

6 The journal deals with topics relating to Jaina history, geography art, archaeology iconography epigraphy, numismatics religion literature philosophy, ethnology folklore etc., from the earliest times to the modern period

7 Contributors are requested to send articles notes, etc., type-written, and addressed to K P Jain Esq, M R A S, Editor "Jaina Antiquary Aliganj, Dist Etah (India)

8 The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc.

9 The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid

10 Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India)

11 The following are the editors of the journal who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology —

Prof HIRALAL JAIN, M A LL.B
Prof A N UPADHYE M A D Litt
B KAMATA PRASAD JAIN, M R A S
Pt K BHUJABALI SHASTRI VIDYABHUSANA